Chapter-2

द्वितीय अध्याय

SMT. HANSA MEHTA LIBRARY
The M. S. University of Baroda

द्वितीय अध्याय

(i) भारतीय परिवारों की संरचनात्मक पृष्ठभूमि

(ii) भारतीय समाज में परिवार का स्वरूप परिवर्तन

(iii) स्वतंत्रता के बाद बदलते परिवेश में परिवार

(iv) स्वतंत्रता के बाद बदलते सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक परिवेश

(v) मध्यम वर्ग

(vi) नारी की स्थिति, नारी शिक्षा का प्रभाव

भारतीय परिवारों की संरचनात्मक पृष्ठभूमि

स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय समाज में परिवार का स्वरूप परिवर्तन बहुत तेजी से हुआ। देश की सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियों में जितनी तेजी से परिवर्तन आया है, उससे नारी को घर से बाहर निकलने, शिक्षा प्राप्त करने तथा स्वयं को अभिव्यक्त करने के विपुल अवसर मिले हैं। बढ़ती महँगाई के कारण परिवार की आवश्यताएँ प्रायः एक व्यक्ति की आय से पूरी नहीं हो पातीं। राजनीतिक एवं सांस्कृतिक चेतना तथा बढ़ते हुए आर्थिक दबाव ने नारी तथा समुचे समाज के चिंतन को परिवर्तित किया है। यही कारण है कि युवा पीढ़ी के साथ–साथ पुरानी पीढ़ी की अपनी प्राथमिकताएँ या शर्ते नहीं हैं। इसलिए विवाहित, अविवाहित महिलाएँ तथा नवजात शिशुओं की माताएँ भी कमर कसकर पुरुषों के अर्थोपार्जन के मूल में उनकी व परिवार की सहमति न्यूनाधिक मात्रा में अवश्य रही है। किन्तु अब धीरे–धीरे नौकरीपेशा महिलाओं की संख्या बढ़ रही है। नौकरियों के कारण लोग अपना गाँव, अपना घर छोड़कर शहरों की तरफ बढ रहे हैं, जिससे परिवार का स्वरूप परिवर्तन हो रहा है जो इस प्रकार हैः

बी.के. रामानुजम के अनुसार ''वर्तमान में या तो आर्थिक आवश्यकताओं के कारण या व्यक्तिगत कारणों से नामिक परिवार स्थापित करने की ओर झुकाव है।''[1]

परिवार में स्वरूप परिवर्तनः

परिवार में होने वाले परिवर्तनों को दो भागों में बाँटा जा सकता है। प्रथम, वे परिवर्तन जो परिवार के ढाँचे या संरचना में हो रहे हैं, द्वितीय वे परिवर्तन जो परिवार के कार्यो अथवा प्रकार्यो में हो रहे हैं।

परिवार के ढाँचे में परिवर्तनः

अनेक कारणों के संयुक्त प्रभाव के फलस्वरूप परिवार के नये प्रतिमान उभरकर सामने आ रहे हैं। परिवार के आकार, प्रकार, सदस्यों के सम्बंधों प्रस्थिति और भूमिकाओं, अधिकारों एवं कर्त्तव्यों तथा परिवार के ढाँचे को निर्मित करने वाले नियमों में वर्तमान समय में काफी परिवर्तन आये हैं। जो निम्न हैं:

(1) **परिवार के आकार का घटनाः**

वर्तमान समय में परिवार का आकार अर्थात् सदस्य संख्या घटती जा रही है। अब सीमित परिवार की ओर लोगों का झुकाव बढ़ता जा रहा है। सन्तति निग्रह या परिवार नियोजन से सम्बन्धित विभिन्न विधियों के प्रयोग ने परिवारों की सदस्य–संख्या घटाकर दो या तीन तक सीमित कर दी है। अब परिवार में 20 या 25 सदस्य दिखाई नहीं पड़ते। अब तो पति–पत्नी और उनके अविवाहित बच्चों से मिलकर नामिक परिवार ही बनने लगे हैं।

(2) **पति–पत्नी के सम्बन्धों में परिवर्तनः**

कुछ समय पूर्व तक पत्नी के लिए पति ही परमेश्वर या देवता के रूप में था। चाहे पति कैसा ही क्रूर या अत्याचारी क्यों न हो, पत्नी को उसे परमेश्वर मानकर उसकी उचित–अनुचित सभी प्रकार की आज्ञाओं का पालन करना पड़ता था। अब इस स्थिति में अन्तर आया है। शिक्षा तथा सामाजिक चेतना ने स्त्रियों को अपने अधिकारों के प्रति जागरुक बनाया है। अब वे दासी के रूप में नहीं बल्कि सहचरी या साथी के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगी हैं।

(3) **पिता के अधिकारों में कमी तथा अन्य सदस्यों के महत्त्व का बढ़नाः**

अब परिवार अधिनायकवादी आदर्शो के रूप में नहीं रहा है। परिवार से सम्बंधित महत्वपूर्ण निर्णय अब केवल पिता के द्वारा ही नहीं लिये जाते। अब ऐसे निर्णयों में पत्नी और बच्चो का महत्त्व भी बढता जा

रहा है। अब परिवार में स्त्री को भारस्वरूप नहीं समझा जाता। अब बच्चों के प्रति भी माता–पिता के मनोभावों में परिवर्तन आया है। वे समझने लगे हैं कि बच्चों को मार–पीट कर या उनकी इच्छाओं का दमन करके उन्हें सही रास्ते पर नहीं लाया जा सकता और उनके व्यक्तित्व का ठीक से विकास नहीं किया जा सकता। स्पष्ट है कि परिवार में स्त्री–सदस्यों एवं बच्चों का महत्त्व बढ़ा है।

(4) विवाह एवं यौन–सम्बंधों में परिवर्तनः

वर्तमान में विवाह एवं यौन–सम्बंधों की दृष्टि से काफी परिवर्तन आया है। अब बाल–विवाहों की संख्या घटती और विलम्ब–विवाहों की संख्या बढ़ती जा रही है। अब जीवनसाथी के चुनाव में भी लड़के–लड़कियाँ पहले की तुलना में काफी स्वतंत्र हैं। आजकल प्रेम–विवाह, कोर्ट–मैरिज या अन्तर्जातीय विवाहों की संख्या बढ़ती जा रही है। आजकल लोग एक विवाह को ही उचित समझते हैं। अब परिवार में विधवाओं के प्रति सहिष्णुतापूर्ण दृष्टिकोण पाया जाता है।

(5) आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से स्त्रियों की स्वतंत्रता का बढ़नाः

वर्तमान में परिवार में सम्पत्ति में स्त्रियों के साम्पक्ति अधिकार बढ़े हैं। अब इन्हें नौकरी या व्यापार करने की भी स्वतंत्रता है। इससे स्त्रियों की आर्थिक स्वतंत्रता बढ़ी है। अब वे परिवार पर भार या पुरुषों की कृपा पर आश्रित नहीं हैं। इससे परिवार में स्त्रियों का महत्त्व बढ़ा है, परन्तु साथ ही उनके दायित्वों के बढ़ जाने से और अन्य सदस्यों की अपेक्षाओं के अनुरूप दायित्व नहीं निभा पाने के कारण उन्हें अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। आज उनके जीवन में अनेक तनाव एवं कुण्ठाएँ पायी जाती हैं। स्त्री शिक्षा के प्रसार ने सामाजिक चेतना लाने और स्त्रियों को अपने अधिकारों के प्रति सजग बनाने में योग दिया है। अब वे सामाजिक जीवन से संबंधित विभिन्न गतिविधियों में भाग लेती हैं। इससे पारिवारिक क्षेत्र में कहीं–कहीं भूमिका संघर्ष की स्थिति पायी जाती है।

(6) नातेदारी के महत्व का घटनाः

वर्तमान समय में नाते–रिश्तेदारों का महत्व कम होता जा रहा है। अब लोग अपने रिश्तेदारों से दूर भागना चाहते हैं। आज नाते–रिश्तेदारों के साथ सम्बंधों में घनिष्टता का अभाव पाया जाता है। इसका कारण आत्मकेन्द्रित होना है। रिश्तेदारी निभाना यानी उनके प्रति जिम्मेदारी भी निभाना व्यक्ति इससे दूर भागना चाहता है।

(7) परिवार में अस्थायित्व का बढ़ना:

आजकल अनेक परिवारों को अस्थायित्व की समस्या का सामना करना पड़ता है। जहाँ पति या पत्नी कर्तव्यों के बजाय अधिकारों पर अधिक जोर देते हैं और अपनी स्वयं की सभी आवश्यकताओं को हर दशा में पूरा करना चाहते हैं, वहाँ पारिवारिक तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जो आगे चलकर तलाक का रूप ग्रहण कर लेती है। आज विशेष रूप से नगरीय क्षेत्रों में तलाकों की संख्या बढ़ती जा रही है जो परिवारों के स्थायित्व के लिए एक खतरा है। इसका कारण परिवार के सभी स्वतंत्रता चाहते हैं। इसमें परिवार का बंधन बाधा डालता है।

(8) परिवार के सहयोगी आधार में कमी:

आज के आधुनिक परिवारों में व्यक्तिवादिता बड़ी तेजी से बढ़ती जा रही है। व्यक्ति आज अपने परिवार, माता–पिता, भाई–बहिनों या अन्य निकट के रिश्तेदारों की चिन्ता नहीं करते हुए अपने ही स्वार्थो की पूर्ति में लगा रहता है। इससे पारिवारिक संगठन पर कुप्रभाव पड़ता है। अब परिवार के सदस्यों में उतना सहयोग व त्याग की भावना नहीं पायी जाती जितनी कुछ समय पूर्व तक पायी जाती थी। आज परिवार की नियंत्रण शक्ति पहले की तुलना में काफी घटी है। देवानन्दन थॉमस ने लिखा है कि ''परिवर्तन के इतने कारकों के कारण गति नामिक पारिवारिक प्रतिमान की ओर है, जिसमें एक पति–पत्नी अपने अविवाहित बच्चों के साथ पाए जाते हैं। यह प्रतिमान व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सभी सदस्यों के विशेष रूप से स्त्रियों और बच्चों के स्वतंत्र निर्णय का अधिक मात्रा में आदर करेगा।''[2] आज परिवार के अनेक कार्य अन्य समितियों ने छीन लिये हैं। राज्य के कार्यों एवं महत्व का विस्तार हुआ है। राज्य ने बालकों को शिक्षा प्रदान करने का दायित्व अपने पर ले लिया है। परिवार की नियंत्रण शक्ति घटी है और राज्य की नियंत्रणशक्ति बढ़ी है। राज्य विभिन्न अधिनियमों के माध्यम से विवाह और परिवार को काफी कुछ प्रभावित कर रहा है। इतना सब कुछ होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि परिवार का स्थान और कोई संस्था ले लेगी।

स्वतंत्रता के बाद बदलते परिवेश

स्वतंत्रता के बाद देश की सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक सभी स्थिति प्रायः विश्रृंखलित थीं। शहरों में पूंजीवादी व्यवस्था पनपने लगी थी। अनेक नये कल–कारखाने अंग्रेज तथा भारतीयों के प्रयत्नों से खुलते जा रहे थे। बम्बई, कलकत्ता और मद्रास जैसे बड़े–बड़े औद्योगिक नगर बनते जा रहे थे।

इस औद्योगीकरण के कारण सम्मिलित परिवार और गाँव टूटते जा रहे थे। औद्योगीकरण के कारण पूँजीवाद ने सामन्तवाद की कमर तोड़ दी। जिससे देश की परिस्थिति में काफी परिवर्तन आया।

(i) सामाजिक परिवेशः

स्वतंत्रता के बाद समाज क्षत–विक्षत हो उठा। सम्पूर्ण समाज अनेक विसंगतियों का शिकार बन गया। धनाभाव, आर्थिक संकट, बेरोजगारी, अनमेल विवाह, भ्रष्टाचार, रिश्वत आदि अनेक समस्याएँ उद्‌भूत हुई। वर्गभेद, वर्णभेद, ऊंच–नीच की भावना को प्रोत्साहन मिलने लगा। समाज के प्रति मानव मन में विद्रोह का बीजारोपण हुआ। मानव अपनी वैयक्तिक आवश्यकताओं की पूर्ति में असमर्थ था।

युवावर्ग एक विशिष्ट पीड़ा से गुजर रहा था। परम्परा मुक्ति की छटपटाहट उसमें स्पष्ट देखी जा सकती है। रूढ़िबद्ध संस्कारों में आबद्ध व्यक्ति की बेचैनी भी नवयुवक वर्ग को यातना दे रही थी। परिवार में रुढ़िवादिता थी। समाज में रुढ़ियों और संस्थानों में संघर्ष बढ़े किन्तु रुढ़ि व संस्थागत संघर्षो एवं रुढ़िवादिता ने समस्त समाज को छोटी–छोटी इकाइयों में बाँट दिया। सामाजिक नियंत्रण क्षीण हो गया। जिसके फलस्वरुप ''व्यक्ति में निराशा, कुण्ठा, असुरक्षा, असंतोष, मृत्यु भय, मानसिक तनाव, अविश्वास एवं दायित्वहीनता जैसी विघटनकारी प्रवृत्तियों ने व्यक्ति को समाज से ही नहीं अपितु अपने आप से विलग कर दिया।''[3] नयी पीढ़ी ने परम्परागत मूल्यों का केवल विरोध ही नहीं किया अपितु उन्हें व्यर्थ घोषित किया।

स्वतंत्रता के बाद संयुक्त परिवारों का विघटन प्रारम्भ हुआ। संयुक्त परिवार सदस्यों का पारस्परिक मनमुटाव, ईर्ष्या–द्वेष, अर्थाभाव, किसी को एक क्षण के लिए मानसिक और शारीरिक सुख प्रदान करने में समर्थ न हो सका। इस प्रकार के परिवार टूटने लगे। समाज में शिक्षा का प्रसार होने से नारी की सामाजिक स्थिति में विशेष परिवर्तन हुए। नारी जो अब तक पुरुष की दासता में पालित–पोषित थी अब स्वतंत्र अस्तित्व की माँग करने लगी।

स्त्री–शिक्षा पर भी बल दिया जाने लगा। नारी पुरुष के साथ बाह्य कार्य–क्षेत्र में जीविकोपार्जन का उत्तरदायित्व वहन करने लगी। बाल–विवाह, दहेज प्रथा, अनमेल–विवाह का विरोध हुआ। विधवा–

विवाह, तलाक का समर्थन होने लगा। समाज में जहाँ एक ओर नारी–स्वतंत्रता पर बल दिया गया वहीं दूसरी ओर रुढ़िवादी संस्कारों के अधीन कुछ लोग नारी विकास के विरोधी भी थे।

पुरुष पर निर्भर घरेलू नारी हीन–भावना से ग्रसित होने लगी। क्योंकि वह आत्मनिर्भर नहीं थी। वह इस संकट से मुक्ति चाहती है। सुशिक्षित नारी स्वतंत्रता चाहती है। नैतिकता के बंधन अब वह स्वीकार करने को तैयार नहीं। किन्तु नारी जीवन के इन बदलते हुए मूल्यों से समाज का उत्थान ही हुआ।

भारतीय समाज में जो विभिन्न वर्ग विद्यमान रहे हैं और यत्किंचित परिवर्तन रूप में आज भी विद्यमान हैं वे उच्च और निम्न वर्ग हैं। इनमें से एक शोषक है और दूसरा शोषित है। राजा, महाराजा, नवाब, जमींदार एवं प्रशासनिक अधिकारी प्रथम वर्ग में एवं श्रमिक और कृषक द्वितीय वर्ग में हैं। इसी के साथ वर्ण व्यवस्था का भी एक वर्गगत दृष्टिकोण है।

स्वातंत्र्योत्तर सामाजिक परिस्थितियाँः

सन् 1947 में भारत की राष्ट्रीय स्वतंत्रता के पश्चात् जीवन की सामाजिक परिस्थितियों में व्यापक परिवर्तन हुए। यह परिवर्तन समाज के सभी वर्गों, क्षेत्रों और पक्षों से संबंधित हैं। उदाहरण के लिए सामाजिक जीवन का मूल आधार अर्थात् पारिवारिक व्यवस्था ही परिवर्तित हो गयी। कुछ विद्वानों ने यह भी स्वीकार किया है कि – ''देश की सामाजिक व्यवस्था का परंपरागत रूप पूर्णतः समाप्त हो गया एवं उसके स्थान पर नये रूपों का आविर्भाव हुआ। वस्तुतः यह वह समय था जब समाज मे संयुक्त परिवार की प्रथा विद्यमान थी और नारी इस संयुक्त परिवार में एक परतंत्र सदस्या की भाँति इस कारण से जीवन–यापन करने को बाध्य थी क्योंकि उसे परिवार के अन्य सदस्यों पर आर्थिक तथा अन्य दृष्टियों से निर्भर रहना पड़ता था।''[4] ऐतिहासिक दृष्टिकोण से नारी का यह परावलम्बी रूप विगत शताब्दियों से चला आ रहा है। वह जन्म से लेकर मृत्यु तक पिता, पति या पुत्र पर आश्रित रहती है। अशिक्षा, अज्ञान, रुढ़ियों एवं अंधविश्वासों के कारण संयुक्त परिवार में उसे दासी ही समझा जाता है। भारतीय समाज के कुछ प्रदेशों में कन्या का जन्म दुर्भाग्य का द्योतक माना जाता है।

राजस्थान जैसे प्रदेश में कन्या के जन्म लेते ही हत्या कर दी जाती है। समाज के विभिन्न वर्गों में विधवा की स्थिति अति शोचनीय थी। यदि किन्हीं कारणों से वह सती नहीं हो पाती थी तो उसे अत्यंत अपमानजनक व दुःखपूर्ण जीवन व्यतीत करना पड़ता था। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी तक नारी पिछड़ी, रुढ़िग्रस्त एवं अंधविश्वासों से ग्रसित थी। इस स्थिति से मुक्ति दिलाने के लिए अनेक समाज सुधारवादी संस्थाओं की स्थापना की गयी। उनका क्षेत्र समस्त जन जीवन तक प्रशस्त था।

स्वातंत्र्योत्तर सामाजिक परिस्थितियों के मूल में जो आन्दोलन सक्रिय रूप से सहायक रहे हैं, उनमें से कुछ का आरंभ विगत शताब्दी में ही हो चुका था। उदाहरण के लिए ब्रह्म समाज का उल्लेख किया जा सकता है। नारी जीवन की रुढ़िवादिता, अंध विश्वास, अज्ञान, अशिक्षा, पर्दाप्रथा का निर्मूलन इस संस्था का प्रमुख उद्देश्य था। राष्ट्रीय आवश्यकताओं को देखते हुए ब्रह्म समाज का राजनीतिक पक्ष भी था। उसने समाज के उत्थान, विकास और सेवा का व्रत लिया। ब्रह्म समाज के आरम्भिक वर्षो का नेतृत्व राजा राममोहन राय ने किया। ''राम मोहन राय की विश्वमानवता का वृत्त बहुत अधिक विस्तृत था, जिसमें समस्त भूमण्डल की स्वतंत्र, पराधीन समद्ध दलित और निष्पोषित जातियों के लिए एक समान स्थान था।''[5] इस युग में नारी जीवन की समस्याएँ प्रमुख थीं। अतः इसका मुख्य उद्देश्य नारी जीवन का सुधार था परन्तु फिर भी उसके राष्ट्रीय जीवन में क्रांति लाने के लिये नारी को केन्द्र बिन्दु मानकर नारी जीवन की समस्याओं और उनके निराकरण के लिए प्रयत्न किये गये। ब्रह्म समाज ने उसका उत्थान और जागरण की दिशा में अनेक योजनाएँ बनायीं। रुढ़िवादिता का विरोध करते हुए अन्तर्जातीय विवाह एवं विधवा विवाह को प्रोत्साहिंत किया गया। बहु–विवाह की प्रथा का न केवल विरोध किया गया वरन् उसे अवैध घोषित किया गया। इस प्रकार सामाजिक स्तर पर ब्रहम समाज ने स्त्री शिक्षा का प्रसार किया, अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहित किया, धर्म के क्षेत्र में व्याप्त आडम्बरों और अंधविश्वासों का विरोध किया गया।

ब्रह्म समाज की परंपरा में सन् 1867 में भी केशवचन्द्र सेन ने प्रार्थना समाज की स्थापना की। इसका मुख्य उद्देश्य समाज को रुढ़िवादिता से मुक्ति दिलाना था। जाति–व्यवस्था को समाप्त करना, बाल–विवाह का निषेध, स्त्री–शिक्षा का प्रसार, अछूतोद्धार और सामाजिक कुरीतियों का निर्मूलन करना इसका उद्देश्य था। शिक्षा के क्षेत्र में इस संस्था ने विशेष कार्य किया। निर्धन स्त्री–पुरुषों को शिक्षा देने के लिए रात्रि पाठशालाएँ चलायी गयीं। इसका कार्यक्षेत्र अधिक व्यावहारिक था। महादेव गोविन्द रानाडे के

सहयोग से यह संस्था और अधिक सफल हो सकी। उनकी निश्चित धारणा थी कि – ''सुधार करने के लिए समूचे समाज को लेना होगा न कि व्यक्ति के जीवन के किसी एक पक्ष को लेकर सुधार की माँग करनी होगी।''[6] रानाडे की प्रेरणा से सन् 1888 में भारतीय राष्ट्रीय सामाजिक सम्मेलन भी हुआ जो देश के राष्ट्रीय स्तर का प्रथम आन्दोलन था।

सन् 1875 में स्वामी दयानंद सरस्वती ने आर्य समाज की स्थापना की। इसका क्षेत्र अधिक विस्तृत व इसका क्रियाकलाप नगरों के तथाकथित अभिजात वर्गीय भद्र समाज तक ही सीमित नहीं था वरन् सुदूर गाँवों तक उसका कार्यक्षेत्र फैला हुआ था। अतः आर्य समाज का आन्दोलन राष्ट्रव्यापी हो गया। इसके समस्त सिद्धान्तों का प्रचार हिन्दी में किया गया जिससे सामान्य जनता तक वे पहुँच सके। इस युग में अंग्रेजी भाषा का इतना अधिक प्रचार था कि निम्न वर्ग उससे वंचित था। अतः आर्य समाज के हिन्दी प्रचार को अधिक मान्यता मिली। ''आर्य समाज ने अशिक्षा, कुरीतियाँ, मूर्ति–पूजा, बलि, पर्दा, दहेज, बाल विवाह का विरोध किया। नारी शिक्षा का प्रचार किया। इस प्रकार सामाजिक सुधार के क्षेत्र मे नारीजीवन के उत्थान की दिशा में आर्य समाज ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।''[7]

गोपालकृष्ण गोखले ने सन् 1905 में भारत सेवक समाज की स्थापना की थी। इसका मुख्य उद्देश्य देश की सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति को सुधारना था। इस संस्था ने देश को सामाजिक एकता में बाँधने का प्रयास किया। हिन्दू–मुस्लिम एकता पर बल दिया तथा शिक्षा का प्रसार किया। इसकी सदस्यता के लिए व्यक्ति का ग्रेजुएट होना अनिवार्य था। नारी शिक्षा का प्रचार, मजदूर आन्दोलन, हिन्दू–मुसलमानों की सामाजिक स्थिति में सुधार आदि कार्य इस संस्था द्वारा संभव हो सके।

डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने भी दलित जातियों के उत्थान में सराहनीय कार्य किये। इस प्रकार के बहुसंख्यक प्रयासों का भारतीय समाज के स्वरूप परिवर्तन की दिशा में क्रान्तिकारी प्रभाव परिलक्षित हुआ।

वास्तव में उस समय की सामाजिक स्थिति अत्यंत शोचनीय थी। अंधविश्वास और रुढ़ियाँ इस प्रकार जकड़ी हुई थीं कि उनको छोड़ना लोगों के लिए सहज कार्य नहीं था। 1936 तक तो भारतीय ग्रामों की स्थिति अत्यधिक निम्न थी। इस समय तक अंग्रेजों तथा उनके सहायक शोषक वर्गो के अत्याचार के कारण ग्रामीण जनता अत्यन्त विक्षुब्ध थी। नारियों की स्थिति अत्यधिक निम्न थी। अंधविश्वासों और

रुढ़िवादिता के कारण समाज का विकास भी नहीं हो पा रहा था। उच्च वर्ग सदैव निम्न वर्ग पर शासन करता रहा। निम्न वर्ग की स्थिति अत्यधिक दयनीय हो गयी। सामाजिक आन्दोलन, मूल्यगत संक्रमण, सामाजिक विसंगतियों, सामाजिक कुरीतियाँ एवं प्राचीन रुढ़ियाँ भी समाज में विद्यमान थीं। इस युग में नारी का वैधानिक सुधार हुआ। सन् 1942 में बड़ौदा सरकार ने दूसरे विवाह को पूर्व विवाह विच्छेद हुए बिना ही मान्यता प्रदान की।

इस युग में ग्रामीण क्षेत्रों में भी अनेक सुधार हुए। महात्मा गाँधी के आदर्श ''गाँधी अध्ययन केन्द्र'' के द्वारा संपादित होते थे। चर्खा–उद्योग एवं औद्योगिक प्रवृत्तियों का प्रचार करना इस केन्द्र का कार्य था। इस केन्द्र का महत्व इसलिए और अधिक बढ़ गया था क्योंकि इससे गाँधीवादी विचारधारा को प्रश्रय मिला। इसका संबंध केवल राजनीति से नहीं था वरन् धर्म, नीति, सदाचार, दर्शन और संस्कृति से भी था। इसमें सत्य, अहिंसा, त्याग, सेवा का ध्येय होता था। कई रचनात्मक कार्य किये गये जैसे साम्प्रदायिक एकता, अस्पृश्यता निवारण, खादी प्रचार, ग्रामोद्योग, मद्यपान निषेध, नवीन शिक्षा, राष्ट्रभाषा प्रेम आदि इसके मुख्य ध्येय हैं। इससे परिवार की स्थिति भी सुदृढ़ हुई।

स्वातंत्र्योत्तर ग्राम जीवन में संयुक्त परिवार का विघटन और एकाकी परिवार का विकास:

'' (1) औद्योगिक विकास

(2) सीमित साधन

(3) यातायात के साधनों की वृद्धि

(4) स्वतंत्र व्यक्तित्व का विकास

(5) मानसिक दृष्टिकोण से परस्पर भिन्नता'' [8]

स्वातंत्र्योत्तर काल में संयुक्त परिवारों के विघटन एवं एकाकी परिवारों के उद्भव से ग्राम जीवन की पारिवारिक व्यवस्था का परम्परागत स्वरूप परिवर्तित हो रहा था। वास्तव में ग्रामीण परिवार भारत में बहुरुपात्मक हैं। ग्रामीण परिवार का संयुक्त रूप अत्यन्त प्राचीन है। संयुक्त परिवार का विघटन आधुनिक औद्योगिक विकास, नगरीय प्रभाव, आर्थिक दबाव, परंपरागत व्यवसायों का विश्रृंखलन, शिक्षा एव वैज्ञानिक

विकास के कारण हो रहा है। परन्तु, ग्रामीण समाज में आज भी उसी परम्परा स्वरूप की प्रधानता है। उसका मूल कारण कृषि व्यवस्था है। ग्रामीण समाज में कृषि व्यवसाय ही संयुक्त परिवार को बनाये रखने का मुख्य कारण है। प्रमुख कारण यही नहीं है कि कृषि में अधिक व्यक्तियों की आवश्यकता होती है, वरन् यह भी है कि एक ही खेत पर साथ–साथ कार्य करने तथा साथ रहने के कारण भिन्न आवश्यकताओं, विचारों, गतिविधियों तथा रुचियों का भी अभाव रहता है। वास्तव में प्राचीन काल में तो धन्धों की अनेकता के अभाव में पारिवारिक जटिलता और भी अधिक संभव थी। ग्रामीण परिवार का मुख्य व्यवसाय कृषि है। परिवार के सभी सदस्य इसी व्यवसाय में ही लगे रहते हैं। संभवतः उन्हें अलग–अलग परिवार बनाने की आवश्यकता ही अनुभव नहीं होती। एक ग्रामीण परिवार में अनेक पीढ़ियों तक के सदस्य साथ–साथ रहते थे।

स्वातंत्र्योत्तर ग्राम जीवन में पारिवारिक व्यवस्था का जो स्वरूप परिलक्षित होता है, वह परम्परागत है। उसमें एक ओर तो संयुक्त परिवार विद्यमान है और दूसरी ओर एकाकी परिवार का विकास हो रहा है।

पारिवारिक दृष्टिकोण से स्वातंत्र्योत्तर ग्राम समाज में जो क्रांतिकारी परिवर्तन हुए उनमें नारी की भूमिका भी विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। पूर्व युग में ग्रामीम नारी का जीवन पूर्ण दासता का था और जीवनभर पराजय में रहते हुए उसे प्रतिकूल परिस्थितियों में भी परिवार के सदस्यों के साथ सहयोग करना पड़ता था। कालांतर में उसकी शिक्षा, स्वतंत्रता और स्वावलंबन से उसकी स्थिति में परिवर्तन हुआ। वर्ण व्यवस्था का रूढ़ रूप समाप्त हो गया।

स्वातंत्र्योत्तर ग्राम जीवन में जो सबसे बड़ा परिवर्तन हुआ है वह एकाकी परिवारों के विकास से संबंधित है। इसके मूल में ग्रामों की नगरोन्मुखता, औद्योगिक विकास, शैक्षिक प्रगति, वैज्ञानिक उन्नति एवं कृषि में अरुचि आदि कारण हैं।

एकाकी परिवारों के विकास का एक मूल कारण ग्रामीण बेकारी भी है जो ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विघटनशील स्वरूप को दर्शाती है। बेकारी आधुनिक युग की एक विकट समस्या है जो विश्व के सभी विकसित एवं अविकसित देशों में विद्यमान है। भारत में यह समस्या और भी भयंकर है क्योंकि नगरीय जीवन में तो अर्थोपार्जन के बहुत से साधन उपलब्ध हैं परन्तु ग्रामीण जीवन में उनकी सीमितता के कारण यह संपूर्ण

सामाजिक, पारिवारिक ढाँचे को विघटित कर देता है। इस रूप में बेकारी उस दशा का नाम है जिसमें कार्य करने योग्य व्यक्तियों को कार्य करने की इच्छा रखते हुए भी कार्य नहीं मिलता।

भावात्मक रूप से संयुक्त परिवार आज भी जीवित हैं, किन्तु परिस्थितियों ने उन्हें व्यावहारिक रूप ग्रहण करने के लिए असमर्थ कर दिया है। परिवार के सदस्यों में आर्थिक सम्बंध अब भी हैं और शादी–गमी आदि अवसरों पर सभी एकत्रित होते हैं, किन्तु एक घर, एक चूल्हा, सम्मिलित पूजा, आदि संयुक्त परिवार के आधार मिट गए हैं। औद्योगिक विकास ने समाज में शिक्षा, धन और पद के आधार पर वर्गों को जन्म दिया।

स्वातंत्र्योत्तर जीवन में सामाजिक कुरीतियाँ एवं अंधविश्वासः

भारतीय समाज विभिन्न प्रकार की सामाजिक कुरीतियों से आक्रान्त रहा है जिनके मूल में अशिक्षा, अज्ञान, अंधविश्वास, रूढ़िवादिता आदि कुप्रथाएँ रही हैं। इन्हीं से संबंधित अन्य अनेक ऐसे दुर्गुण हैं जो शताब्दियों से भारतीय ग्राम समाज को आक्रांत किये हुए हैं और जिनसे मुक्ति के लिए वह आज भी प्रयासशील रहा है। इन कुरीतियों में यदि एक ओर नारी की दयनीय स्थिति से संबंधित प्रश्न हैं तो दूसरी ओर मिथ्या अहं भावना के वशीभूत होकर दीवानी और फौजदारी के मुकदमे लड़ने वाले ग्रामीण जनों की बहक भी है। कहीं–कहीं पर वैवाहिक कुप्रथाओं को उसी के अन्तर्गत उल्लिखित किया जाता है क्योंकि वह भी अनेक कुरीतियों का स्त्रोत है।

स्वतंत्रता पूर्व भारतीय ग्राम जीवन की एक सबसे बड़ी सीमा उसके प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त अंधविश्वास की भावना थी। आज भी बहुसंख्यक उपायों और प्रयासों के बाद भी वह उनसे पूर्ण मुक्ति नहीं प्राप्त कर सका है। यद्यपि बहुत सीमा तक वे समाप्त हो चुकी हैं। स्वतंत्रता के बाद जीवन के परिवर्तनशील स्वरूप के मूल में सामाजिक अंधविश्वासों के प्रति विद्रोह और उनसे मुक्ति की भावना भी परिलक्षित होती है। वास्तव में अंधविश्वासों का बोलबाला था और वह ग्राम जन के शोषण का सबसे बड़ा माध्यम थे। स्वतंत्रता की प्राप्ति के पश्चात् जहाँ ग्राम विकास के विभिन्न आयाम स्पष्ट हुए वहाँ शिक्षा प्रसार, वैवाहिक प्रगति, आर्थिक समृद्धि और राजनैतिक जागरुकता के फलस्वरूप अज्ञान और अशिक्षा का निवारण हुआ तथा सामाजिक अंधविश्वासों से मुक्ति की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम उठाया गया।

स्वातंत्र्योत्तर राजनैतिक परिस्थितियाँः

स्वातंत्र्योत्तर काल मेंजो राजनैतिक परिस्थितियाँ विद्यमान थीं वे राजनीतिक पृष्ठभूमि में हुए आन्दोलनों से प्रेरित, प्रभावित और आप्लावित थीं। तथ्य तो यह है कि सन् 1947 में देश की राजनैतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति के पूर्व ही राष्ट्रव्यापी स्तर पर राजनैतिक चेतना का जागरण हो चुका था। विगत शताब्दी में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना हो चुकी थी जिसने देश को स्वतंत्रता की प्राप्ति तक एक दिशा दी तथा स्वतंत्रता की प्राप्ति के पश्चात् राजनैतिक सत्ता भी प्राप्त की। यद्यपि उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में देश में अनेक राजनैतिक विचारधाराओं का प्रचार और प्रसार रहा परन्तु पिछली एक शताब्दी से काँग्रेस पार्टी ही भारतीय राजनीति के मंच पर प्रमुख भूमिका का निर्वाह करती रही। वस्तुतः समकालीन राजनैतिक क्षेत्रों मार्क्सवाद, समाजवाद, साम्यवाद, प्रजातंत्रवाद, क्रांतिवाद, अराजकतावाद, व्यक्तिवाद, पूँजीवाद, गाँधीवाद आदि अनेक विचारधाराओं के स्फुट सूत्र समाविष्ट हैं। स्थूल रूप से उपर्युक्त सभी विचारधाराओं में आस्था रखनेवाले लोग वामपंथी अथवा दामपंथी खेमों में बँट गये थे। स्वतंत्रता के पश्चात् एक आम आदमी ने जो आशापूर्ण परिकल्पनाएँ की थीं, भ्रष्ट राजनीति ने उन्हें समूल नष्ट कर दिया है।

दिसम्बर सन् 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ गया। इसमें ब्रिटिश सरकार ने भारतीय नेताओं के परामर्श की अवहेलना करके भारत को युद्धाग्नि में झोंक दिया। इससे जनता और नेता दोनों में ही घोर असंतोष की स्थिति परिव्याप्त हो गयी। 1945 में विश्वयुद्ध समाप्त हुआ, ब्रिटेन के आम चुनावों में मजदूर दल ने विजय प्राप्त की और इस प्रकार ब्रिटिश की साम्राज्यवादी शक्ति का ह्रास आरंभ हो गया। भारत में जनता द्वारा विदेशी शासन का बहिष्कार किया जा ही रहा था कि देश की नौसेना ने भी विद्रोह कर दिया। परिणामतः 15 अगस्त सन् 1947 को ब्रिटेन के प्रधानमंत्री श्री एटली को भारत को स्वतंत्रता देनी पड़ी।

स्वातंत्र्योत्तर काल में राजनैतिक चेतना के मूल में जो परिस्थितियाँ क्रियाशील थीं उनकी उद्भावना द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् हुई थी। स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व की राजनीतिक स्थिति वैसे भी संतोषपूर्ण नहीं थी। अब स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश के अनुभवहीन और कमजोर कंधों पर एकाएक भारत–पाक विभाजन, काश्मीर युद्ध, रियासत संबंधी झगड़े, साम्प्रदायिक वैमनस्य, अपने सर्वाधिक लोकप्रिय नेता महात्मा गाँधी की हत्या आदि का टूट पड़ना कोई साधारण बात नहीं थी।

स्वतंत्र भारत की राजनैतिक पृष्ठभूमि पर घटित होनेवाली सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना थी भारत और पाक विभाजन। तब वायसराय के संवैधानिक परामर्शदाता श्री वी.पी. मैनन ने सरदार वल्लभभाई पटेल को समझाया कि ''अपेक्षाकृत इसके कि गृहयुद्ध की ओर अग्रसर हुआ जाय, देश का बँटवारा हो जाना अधिक अच्छा है।''[9]

विभिन्न संशोधनों के साथ नया संविधान 26 नवम्बर सन् 1949 तक बनकर 26 जनवरी सन् 1950 को भारत में लागू कर दिया गया। अब भारत एक पूर्ण प्रमुख संपन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य बन गया, जिसमें नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक न्याय, विश्व बंधुत्व की भावना, अपने विचार प्रकट करने, धर्म एवं पूजा की स्वतंत्रता, सबको समान अवसर प्राप्त करने के मौके प्रदान किये गये। स्वतंत्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति और प्रथम प्रधानमंत्री का पद क्रमशः डॉ. राजेन्द्र प्रसाद और पं. जवाहरलाल नेहरू ने संभाला। काश्मीर की समस्या, तत्कालीन महत्त्वपूर्ण राजनीतिक समस्या थी। काश्मीर में मुसलमानों का बहुमत था। इस आधार पर पाकिस्तान का राजा हरिसिंह हिन्दू था। अतएव वह काश्मीर को भारत का ही अंग बने रहने देना चाहता था। इसी बात पर पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण कर दिया। काश्मीर का झगडा यू.एन.ओ. में पहुँचा, जहाँ से दोनों देशों को अपनी सीमाओं पर लौट आने का आदेश हुआ। इस प्रकार काश्मीर का युद्ध निरर्थक ही रहा।

दूसरा महत्वपूर्ण झगड़ा देशी सियासतों का था। सन् 1951 से पंचवर्षीय योजनाओं का सूत्रपात हुआ। हमारे अन्तर्राष्ट्रीय संपर्क स्थापित हुए और तटस्थता की विदेश नीति की प्रतिष्ठा हुई। स्वतंत्र भारत की भूमि में प्रथम चुनाव केन्द्र और राज्य दोनों की ही सत्ता काँग्रेस के हाथों में रही।

''स्वतंत्रता के बाद समाज में सत्य, अहिंसा, मानवता, नैतिकता, मर्यादा, सादगी, शान्ति और संतोष जैसे सांस्कृतिक मूल्यों की परिभाषाओं में भी अंतर आया है।''[10] नयी पीढ़ी के लिए यह शब्द मात्र धोखा है।

स्वातन्त्र्योत्तर समाज में धर्म के नाम पर अंधविश्वास, रुढ़ियाँ, आडम्बर प्रचलित रहे हैं। धर्म पाखण्ड, स्वार्थसिद्धि, अनैतिकता और सामाजिक विघटन के हेतु रह गया है।

पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति का प्रभाव भी समाज पर पड़ा जिससे भारतीय प्राचीन मूल्यों में परिवर्तन होने लगे। धार्मिक रूढियाँ हटने लगीं।

आजादी के बाद ब्रिटिश सरकार की कूटनीति के परिणामस्वरूप देश दो भागों में विभक्त हो गया। महात्मा गाँधी जी को कुछ लोगों ने इस विभाजन का कारण माना। देश में विद्रोह प्रारंभ हो गया। गाँधी की हत्या के बाद 26 जनवरी 1950 को जनता ने अपना संविधान अंगीकृत किया। भारत में लोकतंत्र का राज्य प्रतिस्थापित हुआ। जनसाधारण को मताधिकार, न्याय, मत प्रकाशन और मत प्रकट करने की स्वतंत्रता दे दी गई। डॉ. रघुवंश के मतानुसार ''इन विभिन्न स्वतंत्रताओं के बीच व्यक्ति की आंतरिक स्वतंत्रता की माँग खो गई।''[11]

सन् 1952 में आम चुनावों की घोषणा की गई। काँग्रेस दल की विजय हुई। भारत ने समाजवादी व्यवस्था को स्वीकार किया।

देश के कर्णधार नेताओं की पारस्परिक फूट एवं स्वार्थ की नीतियों ने राजनीति में तहलका मचा दिया। वर्गभेद, ऊँच–नीच की भावना को प्रोत्साहन मिलने लगा। पूँजीपतियों द्वारा निम्न वर्ग का शोषण भी कम नहीं हुआ। देश में प्रजातंत्र के बावजूद निम्न जनता का रक्तपात होता ही रहा। साम्राज्यवादी और सामंतवादी प्रवृत्तियाँ बाह्य रूप से भले ही अस्तित्वहीन हो गई, किन्तु भीतर ही भीतर चलती रही। सुशिक्षित एवं संभ्रांत वर्ग में भी अनादर्श और अनाचार फैलने लगा।

सन् 1962 में आंतरिक अव्यवस्था को देखते हुए चीन ने भारत पर आक्रमण कर दिया। प्रधानमंत्री नेहरू के समय में ही इस युद्ध में मिलने वाली गहरी पराजय से जनता में असुरक्षा की भावना फैलने लगी। अचानक पंडित नेहरू की मृत्यु से देश के सामने समस्या उत्पन्न हो गई। श्री लालबहादुर शास्त्री के प्रधानमंत्री पद पर आसीन होने के अठारह महीने के अंतराल में कई राजनैतिक उलटफेर हुए। 19 जनवरी 1966 को श्रीमती इंदिरा गाँधी प्रधानमंत्री नियुक्त हुईं। 1967 के आम चुनावों में काँग्रेस दल की नींव हिल गई उसमें दो दल हो गए। एक दल समाजवाद के नाम पर प्रचलित पुरानी नीतियों से चिपका रहा। दूसरा दल युवा काँग्रेस का था जो प्रगतिशील समाजवाद के समर्थक थे।

श्रीमती इंदिरा गाँधी ने दूसरे दल का नेतृत्व किया। इसके बाद सन् 1970 तक सारे देश में भ्रष्टाचार, गरीबी, बेकारी, भुखमरी का साम्राज्य हो गया।

जून 1975 में आपातकाल की घोषणा के बाद अनेक सामाजिक व राजनैतिक परिवर्तन देश में हुए। किन्तु ये परिवर्तन सत्ता के बल पर लाने की कोशिश मात्र थे। इससे देश की व्यवस्था में जो भी सुधार हुआ वह अधिक दिनों तक स्थिर नहीं रह पाया। आपातकालीन स्थिति के लागू होने पर सारे देश में जबरदस्ती विशिष्ट व्यवस्था को लाने का प्रयास किया गया। किन्तु सारा देश, समाज और राजनीति अपने मूल रूप में इतने भ्रष्ट और विभिन्न विषमताओं से आक्रांत हो चुके थे कि उनमें व्यवस्था लाने की कोशिश अधिक सफल नहीं हो पाई। समाज और राजनीति के हर क्षेत्र में दबाव डालकर जो व्यवस्था लाई गई उससे जनता सरकार द्वारा अपने आपको शोषित समझने लगी। 'आपातकाल' द्वारा सत्ताधारी वर्ग की दमन की नीति ही प्रकट हुई जिसका विरोध खुलकर न सही भीतर ही भीतर जनता द्वारा होता रहा।

15 अगस्त 1947 को भारत को जब राजनैतिक स्वतंत्रता मिली तो ऐसा लगा कि मानो नवयुग का पदार्पण हुआ, अभी भारतीय जन के स्वप्न साकार ही होने वाले थे कि देश में भीषण साम्प्रदायिक दंगे प्रारंभ हो गए। घोर हिंसा और विभाजन की हृदयद्रावक घटना ने महात्मा गांधी के अहिंसा के स्वप्न को छिन्न–भिन्न कर दिया। सारा देश शरणार्थियों की करुण त्रासदी से हाहाकार कर उठा। यह वह समय था जब भारत में गणतंत्र का स्वरूप धारण कर रहा था और दूसरी ओर जनमानस में पराधीन अतीत की कड़वाहट अभी मिटी नहीं थी। ऐसे समय में प्राचीन और नवीन का भीषण मंथन चल रहा था। 26 जनवरी 1950 को भारत एक सर्वसत्ता सम्पन्न गणराज्य के रूप में विश्व के समक्ष उभरकर आया।

ऐसी परिस्थिति में हिन्दी के उपन्यासकार ने सामाजिक मर्यादा के विशाल परिवेश में प्रवेश किया। मताग्रह का प्रतिपादन और आन्तरिक पर्याय की खोज छोड़कर वह नई चेतना के सम्पर्क में आया। सन् 1947 से 1951 तक टेढ़े–मेढ़े रास्ते, मुक्तिपथ, सीधा–सादा रास्ता, सुबह के भूले, पथ की खोज जैसे उपन्यास लिखे गए। इन उपन्यासों में बदला हुआ सामाजिक यथार्थ अभिव्यक्ति पाने लगा था। चूँकि जनतंत्र की प्राप्ति एक बड़ी उपलब्धि थी इसलिए इन उपन्यासों में जनमानस की प्रतिष्ठा की जाने लगी। अब उपन्यास के चरित्रों में साधारण जन की सोच–समझ और वैचारिकता को प्रमुखता मिलने लगी।

स्वतंत्रता ने जहाँ नई चेतना दृष्टि दी, वहीं नए पथ पर चलने का संकोच और आशंका भी लेखकों के मन में भर दी। आशा और आशंका का यह द्वंद्व भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'टेढे–मेढे रास्ते' में व्यक्त

हुआ। स्वतंत्रता पूर्व और स्वातंत्र्योतर स्थितियों के अन्तर को धीरे–धीरे ही समझा जा सकता था। वह विडम्बनापूर्ण समझदारी ही भारतीयों के लिए कठिनाई बनी। ''हम सब केवल इतना ही जानते हैं कि हम चल रहे हैं और यही हमारी मुसीबत है, यही मुसीबत रही है और यही मुसीबत रहेगी। अगर हम इतना जान सकते कि हम कहाँ चल रहे हैं तो अधिक अच्छा होता। लेकिन शायद यह संभव नहीं है।''[12]

साहित्यकार जो कुछ समाज से ग्रहण कर रहा था, उसी का चित्रण वह कर रहा था। उसे कोई ऐसा दिशा–निर्देश नहीं मिल रहा था, जिसके आधार पर वह भारतीय संस्कृति और परिवेश के उपन्यासों में समाज, अचल परिवेश अथवा पृष्ठभूमि के तौर पर उपस्थित था, और व्यक्ति से कहीं दूर खड़ा था। उन्हीं दिनो यशपाल ने वर्ग–भेद को अपनी कृतियों में स्थान दिया। परिवर्तित कथा साहित्य में बदलते समाज का चित्रण बराबर किया जा रहा था।

राजनैतिक स्तर पर जो विचारधाराएँ प्रचलित थीं, साहित्य में कमोबेश उन्हीं को अभिव्यक्त किया गया। वैचारिक स्तर पर चार समान्तर धाराएँ साहित्य में प्रचलित थीं – साम्यवादी, प्रगतिवादी, मार्क्सवादी और गाँधीवादी। इन सभी में आधुनिक और नव आधुनिक समाज को व्यवस्थित करने की बात कही गई।

व्यक्तिवाद का उदयः

औद्योगीकरण ने आम भारतीय के सामने समृद्ध भारत का सपना रखा। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद उत्पन्न देश की राजनैतिक स्थिति ने लेखकों की वैचारिक प्रतिबद्धता बदल दी। अब वह स्थानीय स्वायत्त शासन से संतुष्ट नहीं था बल्कि देश में चल रहे स्वाधीनता संग्राम के प्रति आशान्वित थी।

बदली मानसिकता के इस दौर में दो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए – एक तो नगरों का महत्त्व बढ़ा और दूसरे संयुक्त परिवार में टूटने की प्रक्रिया शुरु हुई और वर्गभेद बढ़ा। मध्यवर्ग का प्रसार तेजी से हुआ। राजनैतिक क्षेत्र में काँग्रेस नो पूर्ण स्वराज्य की घोषणा कर दी तथा औद्योगिक क्षेत्र में ट्रेड युनियनें और किसान संगठन अस्तित्व में आने लगे। इस नयी नीति के फलस्वरूप देश में प्रगतिवाद प्रकट हुआ। ''इस व्यक्तिवाद ने सामाजिक यथार्थ की धारणा को खंडित कर दिया।''[13] अब व्यक्ति के संस्कार और विचार केवल उसके पूरक और सहयोगी बनकर ही नहीं पाए बल्कि वे टकराव की भूमिका भी बनाने लगे। इस

टकराहट ने युग संघर्ष को एक नया आयाम दिया। व्यक्ति से व्यक्ति की टकराहट का। इन परिवर्तित परिस्थितियों में नारी स्वातंत्र्य की आवाज भी सुनाई देने लगी। ''सामंती व्यवस्था के टूटने की प्रक्रिया नारी के स्वतंत्र अस्तित्व के रास्ते खोल रही थी। अब विवाह केवल सामाजिक संबंध नहीं बल्कि नारी और पुरुष के पारस्परिक प्रेम का परिणाम भी बन रहा था।''[14] व्यक्ति और व्यक्ति के संबंध अब ज्यादा महत्वपूर्ण हो गए थे। उनके बीच एक नया समाज उदित हो रहा था, एक अलग व्यक्ति दर्शन का विकास हो रहा था। परिवार में भी इस व्यक्तिवादी स्वतंत्रता की छटपटाहट दिखाई देती है।

साहित्य में भी इस व्यक्ति दर्शन की अभिव्यक्ति विभिन्न विधाओं में हुई। ''कविता के क्षेत्र में छायावाद इसी व्यक्तिवाद का प्रकाश है।''[15]

आर्थिक स्थिति:

1757 में प्लासी की लड़ाई में विजय के पश्चात् भारतीय राजनीति के संचालन के समस्त सूत्र धीरे–धीरे अंग्रेजों के हाथ में आ गए थे। देश की राजनीति में परिवर्तन के साथ ही धीरे–धीरे आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र के परिवर्तन भी लक्षित किए जाने लगे। औद्योगिक क्रान्ति के कारण ब्रिटेन में पूँजीवादी अर्थव्यवस्था अस्तित्व में आ चुकी थी और बड़े पैमाने पर उत्पादन किए जाने के कारण अंग्रेजों को कच्चे माल की सख्त आवश्यकता थी। फलतः 19वीं शताब्दी में बंगाल, बिहार, उड़ीसा में जमींदारी प्रथा लागू कर जोतदार के ऊपर जमींदारों का एक वर्ग खड़ा कर दिया जो निश्चित रूप से अंग्रेजों का स्वामिभक्त था। उसके बाद 1820 में 'इस्तमरारी बन्दोबस्त' लागू करके जमीन को व्यक्तिगत सम्पत्ति घोषित कर दिया गया। उससे पूर्व गाँवों में जमीन को सामूहिक सम्पत्ति समझा जाता था। फलतः व्यक्तिविशेष अपनी इच्छानुसार इसका क्रय–विक्रय नहीं कर सकता था। किन्तु जमीन पर व्यक्तिगत स्वामित्व हो जाने के कारण अपने हितों की रक्षा की बात प्रमुख हो गई और कृषि का स्वरूप व्यावसायिक हो गया। अब गाँव में ही समस्त आवश्यकताएँ जुटाने के लिए उत्पादन नहीं किया जाता था बल्कि उन्हीं वस्तुओं को पैदा किया जाने लगा जो व्यवसाय की दृष्टि से लाभप्रद थीं। इसके दो परिणाम हुए – एक तो अंग्रेजों को कम दाम पर कच्चा माल मिलने लगा। लेकिन जमींदारों और महाजनों के चंगुल में फँसकर किसान की अवस्था खराब होती गई। दूसरे, कृषि में व्यावसायिकता आ जाने से गाँव अपने आप में पूर्ण आर्थिक इकाई नहीं रह सके और भूमि पर दबाव बढ जाने के कारण किसान को किसी अन्य काम की तलाश में नगर की ओर जाने को

बाध्य होना पड़ा। इससे ''गाँवों की जड़ता टूटी और गाँव दूसरे गाँवों तथा शहरों के सम्पर्क में आने को बाध्य हुए। घेरे में बँधी अर्थव्यवसाथा राष्ट्रोन्मुख हो चली। जो देश केवल आर्थिक एकता में बँधा हुआ था, वह राष्ट्रीय एकता के प्रति भी जागरुक होने लगा। दूसरी ओर जातिप्रथा आर्थिक वर्गों में बदलने लगी। ......उच्च वर्ग और श्रमिक वर्ग के अतिरिक्त एक नए मध्यवर्ग का उदय हुआ।''[16]

किसी भी देश की अर्थव्यवस्था उस देश की सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक स्थितियों की द्योतक है। स्वतंत्रता के बाद भारत का नवनिर्माण हुआ, विभिन्न योजनाएँ बनायी गयीं। चेस्टर बॉल्स ने ''न्याय समाज के मूलाधार'' पुस्तक में लिखा है कि ''किसी विकासोन्मुख राष्ट्र में सरकार का मुख्य काम है – राष्ट्रीय आर्थिक और अग्रताएँ तैयार करना, आधारभूत अधोरचना के लिए पूँजी और निर्देशन की व्यवस्था करना और उन अन्य अत्यावश्यक उत्पादन की सुविधाओं का विकास करना, जिनके लिए गैर सरकारी पूँजी प्राप्त न हो रही हो।''[17] सुव्यवस्थित आर्थिक व्यवस्था के अभाव में देश की उन्नति संभव नहीं।

स्वतंत्रता के पश्चात् देश की आर्थिक स्थिति में सुधार एवं उन्नति की सम्भावना थी। किन्तु देश की आर्थिक हानि हो जाने के कारण स्थिति बिगड़ गई। देश की सम्पत्ति विदेशियों द्वारा हड़प ली गई।

देश के उद्योग धंधे नष्ट हो गये। किसानों का शोषण प्रारम्भ हो गया। यद्यपि सरकार आर्थिक असमानता की समाप्ति के लिए कटिबद्ध थी। 1981 में पंचवर्षीय योजना लागू की गई। जिसका उद्देश्य कृषि उत्पादन, धन का समान वितरण था। नये कार्यक्षेत्र की प्रतिस्थापना करके आर्थिक उन्नति करने, दरिद्रता हटाने और बेकारी को दूर करने का था। योजनाएँ सफल नहीं हुईं। इससे कुछ अंश तक पूँजीपति वर्ग भले ही लाभान्वित हुआ हो, जन–सामान्य के स्तर में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इन योजनाओं से धन, समय और शक्ति का ह्रास हुआ।

इसके अतिरिक्त कृषि योग्य अधिकांश भूमि पर जमींदारों का कब्जा है। विदेशी पूँजी ने भी तेजी से हमारी अर्थव्यवस्था को जकड़ लिया है। आम जनता महँगाई, बेकारी, अभाव, गरीबी और भुखमरी की आग में जल रही है।

जनसंख्या की वृद्धि के कारण खाद्य समस्या भी देश में भयानक रूप धारण कर चुकी थी। बेकारी को दूर करने के कोई कारगर उपाय सरकार द्वारा निर्मित प्रथम योजना में नहीं थे। परिणामतः निम्न मध्यवर्ग पर उनके अनुकूल रोजगार जुटाये नहीं जा सके। परिणामतः शिक्षित नवयुवकों के उपार्जन की समस्या ने भीषण रूप धारण कर लिया। मूल्य वृद्धि से आर्थिक संकट बढ़ता ही रहा। स्वतंत्रता के बाद देश की अर्थव्यवस्था असफल हो गई। आम आदमी पर इसका गम्भीर प्रभाव हुआ।

उक्त परिस्थितियों के दबाव में मानव–सम्बंधों में भी एक विशिष्ट बदलाव आया है। सम्बंधों के इस बदलते हुए यथार्थ की अगणित मुद्राएँ 1960 के बाद के उपन्यासों में ग्राम, नगर तथा महानगर के त्रिस्तरीय परिवेश में उपलब्ध होती हैं। ये मुद्राएँ निम्न मध्यवर्गीय समाज में आर्थिक स्तर पर किये जा रहे संघर्ष की पृष्ठभूमि में उभरी हैं। इसमें शिक्षित आधुनिका नारी के सम्बंधों का एक टूटता बनता और बिखरता संसार है। पुरुष इस संसार में अधिकाधीक भावनाहीन होता गया है। आर्थिक शोषण तथा व्यवस्था–तंत्र और नौकरीपेशा की किलेबन्दियों की सर्व व्यापक प्रक्रिया से गुजरते हुए अवसरवादी समझौतापरक तत्वों का शिकार होकर जड़ एवं भावनाहीन हो गया है। आर्थिक लाभ को दृष्टि में रखने के कारण महिलाओं की नौकरी के प्रति समाज के दृष्टिकोण में परिवर्तन आया है , जबकि इसके विपरीत महिलाओं द्वारा नौंकरी करने के मूल में परिवार के आर्थिक आधार को दृढ़ करना ही नहीं हैं, अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को विकसित करना भी है। ''सिर्फ शिक्षित हो जाना महिलाओं के नौकरी करने का कारण नहीं है, बल्कि यह तो प्रस्थान बिन्दु है जहाँ से चलकर उसके कामकाजी होने के मूल कारण भिन्न–भिन्न हो जाते हैं। जैसे, परिवार की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु कामकाज करना, परिवार का जीवन–स्तर बढ़ाने के लिए कामकाज करना, घर के तनावपूर्ण वातावरण से अल्पकालिक राहत पाने के लिए, आत्माभिव्यक्ति एवं आत्म सार्थकता के लिए, शिक्षा एवं खाली समय के सदुपयोग के लिए कामकाज करना। यह निष्कर्ष प्रोमिला कपूर ने 1971 में एक सर्वेक्षण के पश्चात् दिया।''[18] आर्थिक समस्याओं से जूझते हुए मानव के लिए सम्पूर्ण परिवार के उत्तरदायित्व का बोझ वहन करना सम्भव नहीं हो पाता। फलतः नारी–पुरुष दोनों ही पारिवारिक इकाई जैसे महत्वपूर्ण बिन्दु होने के कारण आर्थिक रूप से समानकर्मी हो तभी पारिवारिक ढाँचा सुचारु रूप से चल सकता है।

धार्मिक पृष्ठभूमिः

भारतीय समाज और परिवार धार्मिक आस्था से ओतप्रोत रहे हैं। भारतीय समाज मे धर्म की अह्म भूमिका है। सामाजिक ढाँचा धर्म पर ही आधारित है। यहाँ देवी–देवताओं एवं मूर्तिपूजा को प्रधान रूप से महत्व दिया जाता है। ग्रामीण परिवारों का सर्वस्व कृषि पर ही आधारित होता है और कृषि मूलतः प्रकृति की दया पर ही निर्भर करती है। इसलिए गाँव निवासी ईश्वर की आराधना में ही अपना अधिकांश समय व्यतीत करते हैं। भारत में कृषि के वैज्ञानिक साधनों का प्राचुर्य न होने के कारण गाँव वालों का अलौकिक शक्ति पर विश्वास बढ़ जाता है। इस प्रकार गाँव में धर्म के अनेक रूप मिलते हैं। गाँव में धर्म एक ऐसी प्रबल सामाजिक शक्ति के रूप में विद्यमान है जो कि गाँव वालों के समस्त कार्यकलापों को प्रभावित करती है।

भारतीय परिवार और समाज को संचालित करने वाले तत्वों के अन्तर्गत धर्म का महत्वपूर्ण स्थान है। परम सत्ता में विश्वास करने की भावना धर्म का उद्‌गम स्थल है। विश्व मानवता के इतिहास का अवलोकन करने से यह ज्ञात होता है कि जिन व्यक्तियों का प्रकृति से जितना प्रत्यक्ष संबंध होता है अथवा जो अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रकृति पर जितने अधिक निर्भर होते हैं, उनका विधाता की परम सत्ता में उतना ही अधिक विश्वास होता है। भारतीय परिवार अपनी आजीविका के लिए कृषि पर प्रकारन्तर से प्रकृति पर निर्भर करती है इसलिए उसका धर्मावलम्बी होना स्वाभाविक ही है। भारतीय समाज में प्रचलित धर्म–सम्बंधी विश्वासों, आस्थाओं, मान्यताओं, अंधविश्वासों एवं विविध धर्मो तथा उनके पारस्परिक सम्बंधों का समावेश मिलता है।

भारतीय ग्रामीण परिवारों का धर्मिक विश्वास है कि मानव जीवन में प्रत्येक सुख–दुख की उपलब्धि का प्रदाता परमेश्वर होता है। ग्रामीण समझता है कि उसे कोई अज्ञात, अनादि, अन्नत शक्ति संचालित कर रही है, इसे ही ईश्वरवाद कहते हैं।

ग्रामीण परिवार जलाभाव में वर्षा के लिए एवं अति जल वर्षा में वर्षा बंद करने के लिए इन्द्र भगवान से प्रार्थना करता है। वर्षा का होना न होना इन्द्र भगवान की प्रसन्नता पर निर्भर है। बिहार के मेरीगंज ग्राम की जनता के वर्षा सम्बंधी दृष्टिकोण के संबंध में फणीश्वरनाथ 'रेणु' लिखते हैं – ''हर साल बरसात के मौसम में यही होता है। भगवान के हाथ की बात इन्सान क्या जाने? इन्द्र भगवान से प्रार्थना की जाती है, इन्द्र महाराजा... जरा

भी आसमान के किसी कोने में कोई बादलों का जमाव हुआ, बिजली चमकी कि, 'बरसो', 'बरसो' की पुकार घर–घर में सुनाई पड़ती है। जमीन वालों, बेजमीनों, सबों की रोटी का प्रश्न है। और यदि लगातार 'पाँच' दिनों तक घनघोर वर्षा हुई और खेतों में आल डूबे कि... जरा एक सप्ताह सबुर करो महाराज।''[19]

भारतीय परिवार खासकर ग्रामीण परिवारों में धर्म सम्बंधी विचार जगत में ईश्वरवाद की विचारधारा के पश्चात् बहुदेववाद का प्राधान्य है। ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए परिवार में बहुत से देवी–देवताओं की उपासना की जाती है तथा उनकी पूजा करने वाले पंडों–पुजारियों तथा साधुओं के प्रति श्रद्धा रखी जाती है।

ईश्वरवाद एवं बहुदेववाद के अतिरिक्त आत्मवाद की विचारधारा भारतीय परिवारों में प्रचलित है। आत्मवाद की विचारधारा के अनुसार मानव विश्वास करता है कि प्रत्येक व्यक्ति मृत्यु के उपरान्त सद्गति प्राप्त करता है वह भूत–प्रेत–चुडैल बनकर इस धरा पर विचरण करता है एवं अन्य मनुष्यों पर प्रहार कर अपनी तृप्ति करता है। हमारे समाज में भूत–प्रेत–चुडैल आदि के निवास–स्थानों, उन्हें आक्रान्त व्यक्ति से दूर करने की पद्धतियों एवं उन्हें दूर करने वाले ओझाओं आदि की गतिविधियाँ देखने को मिलती हैं।

भारतीय ग्रामीण समाज में ईश्वरवाद, बहुदेववाद एवं आत्मवाद के साथ–साथ ईश्वर की साधना में सम्पूर्ण जीवन समर्पित करने वाले साधुओं, उनकी साधना पद्धतियों, पद्धति के आधार पर विविध सम्प्रदायों एवं निवासस्थानों–मठों–मंदिरों आदि का प्रचलन पाया जाता है। तथा भारतीय समाज में साधुओं के परम्परागत मठों, साधुओं की साधना पद्धतियों, उनके ढोंगों एवं जनता में उनके प्रति परम्परागत एवं परिवर्तित श्रद्धा तथा विश्वास का चित्रण पाया जाता है। भारतीय समाज में सच्चे और ढोंगी दोनों प्रकार के साधु पाये जाते हैं। सच्चे साधु अपने सदुपयोग, त्याग एवं तपस्या के कारण जनता के सम्मान का पात्र बनते हैं और ढोंगी साधु रहस्य खुल जाने पर सामाजिक उपेक्षा प्राप्त करते हैं।

भारतीय परिवारों में औषधि–शास्त्र पर भी धर्म का प्रभुत्व पाया जाता है। मानव शरीर के लिए घातक बीमारियों के प्रभाव को दूर करने के लिए धर्म–सम्बंधी विश्वासों का प्रचलन पाया जाता है। साँप के काटने से शरीर में प्रविष्ट विष को उतारने के लिए मंत्रों का उपयोग किया जाता है तथा बच्चों की अन्य बीमारियों को दूर करने के लिए ओझा आदि झाड़ते हुए देखे जाते है।

भारतीय परिवार अधिकतर जो गाँवों में रहते हैं वह धार्मिक क्षेत्र में पाप–पुण्य की विचारधारा को महत्वपूर्ण मानते हैं। जो व्यक्ति सत्कर्म करता है वह इहलोक तथा परलोक में सुख प्राप्त करता है एवं जो व्यक्ति दुष्कर्म करता है वह इहलोक एवं परलोक में कष्ट प्राप्त करता है। धार्मिक विचारकों के अनुसार समसामयिक समाज में जनता के कष्टों के बढ़ने के कारण उसके दुष्कर्मो का विकास है।

भारतीय ग्रामीण समाज में विविध धर्मावलम्बी निवास करते हैं जिनमें हिन्दू एवं इस्लाम धर्म का पालन करने वालों की बहुलता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व एवं पश्चात् दोनों कालों में हिन्दू एवं मुसलमानों के सम्बंधों में परस्पर साम्प्रदायिक झगड़े तथा राष्ट्र–प्रेम की प्रवृत्तियाँ साथ–साथ परिलक्षित होती हैं। हमारे साहित्य में भारतीय ग्रामीण समाज के इस्लाम धर्म के स्वरूप, इस्लामियों के हिन्दुओं के साथ सम्बंध इनकी साम्प्रदायिकता एवं राष्ट्रीय भावना का चित्रण पाया जाता है।

भारतीय समाज में हिन्दू एवं इस्लाम धर्मावलम्बियों में साम्प्रदायिक झगड़ों का पुरातन इतिहास मिलता है। राजनीतिक नेतागण हिन्दू और मुसलमानों को आपस में लडाकर अपना उल्लू सीधा करते हैं। स्वतंत्र भारत में भी विविध अंचलों के प्रभावशाली व्यक्ति धर्म के नाम पर दोनों सम्प्रदाय वाले लोगों को आपस में लड़ाकर अपना लक्ष्य पूर्ण करते हुए देखे गए हैं।

पाश्चात्य शिक्षा एवं सभ्यता के साथ–साथ अधुनातन राजनीतिक विचारधारायें भी ग्रामीण जनता के परम्परागत धार्मिक दृष्टिकोण में परिवर्तन कर रही है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत सरकार द्वारा निर्मित विविध प्रजातांत्रिक अधिनियमों के परिणामस्वरूप धर्म के परम्परागत स्वरूप में परिवर्तन आ रहा है। समसामयिक ग्रामीण समाज में परम्परागत उच्च जाति एवं वर्ण के व्यक्ति निम्न जाति के व्यक्तियों को मंदिर में प्रवेश करने के लिए मना करते हैं और सरकारी अधिनियमों से प्राप्त समानता के अधिकार के कारण आज प्रत्येक व्यक्ति सार्वजनिक स्थान पर जाने का अधिकारी है।

मध्यमवर्गीय परिवारों में धार्मिक आस्था और रुढ़ियों का निर्वाह बहुत है। बहुत सा धार्मिक विधि–विधान भी मध्यवर्ग के साथ जुड़ा हुआ है। धार्मिक आस्था एवं धार्मिक विधि–विधान का होना स्त्री पात्रों में ही नही बल्कि पुरुष पात्रों में भी विद्यमान है।

धार्मिक कर्मकाण्ड : मध्यवर्गीय मनोवृत्तिः

धार्मिक कर्मकाण्ड न कर पाने पर मध्यवर्गीय परिवार दुःखी होते हैं। वे एक बार कोई नियम ले लेने के बाद उसे किसी भी हालत में तोड़ना नहीं चाहते। प्रायः अधिकतर लोग नित्य मंदिर में दर्शन करने जाते हैं। 'यह पथबन्धु था' में नारायण बाबू के बड़े भाई गोवर्धननाथ अपंग हैं, फिर भी – ''उनका नियम था कि सवेरे गिरिवर वाले बगीचे की ओर निकल गये। वहीं संध्या करके श्रृंगार के दर्शन के लिए पालकी पर निकल जाना।''[20]

किन्तु कुछ लोग ऐसे होते हैं जो दर्शन करने रोज न जाकर कभी–कभी जाते हैं। 'यह पथबन्धु था' में नारायण बाबू तथा श्रीधर वैजनाथ महादेव के दर्शन करने यदा–कदा जाते हैं। ''साँझ हो चुकी थी। निर्जन जैसे सहसमुखी होकर घिरने लगा था। दोनों ने नाले में जाकर हाथ–मुँह धोया और उपरान्त दर्शन किये।''[21]

देवदर्शन अथवा पूजा–पाठ के पूर्व स्नान करना अनिवार्य है। स्नान को धर्म से जोड़ देने से हमारे देश में स्नान का महत्व बढ़ जाता है। गंगा, क्षिप्रा नर्मदा आदि में स्नान करना पवित्र माना जाता है। कार्तिक स्नान का महत्व भी अधिक है।

धार्मिक उत्सवः

कई लोग विवाह के बाद विशेष तिथियों पर अथवा स्वेच्छा से धार्मिक उत्सवों का आयोजन करते हैं। मध्यवर्ग में ऐसे आयोजन सीमित और उच्चवर्ग में पूरे विस्तार के साथ आयोजित होते हैं। मध्यवर्ग की तरह ही विधि–विधान एवं रुढ़ियों का निर्वाह भी वे करते हैं। मध्यवर्ग के यहाँ प्रायः एक पूजा–घर होता है। लेकिन झालानी परिवार में तो पूरा मंदिर है जहाँ प्रायः आयोजन होते रहते हैं।

वस्तुतः मध्यवर्ग की सारी दिनचर्या धर्म का आवरण लेकर चलती हैं। उसके सो कर उठने, स्नान करने, भोजन करने, व्यापार या नौकरी करने और फिर सोने के साथ कुछ न कुछ धर्म जोड दिया गया है। धर्म के इस तथाकथित और स्थूल स्वरूप को निभाना कठिन कार्य नहीं है। इसलिए मध्यवर्गीय परिवारों में परंपरागत ढंग से इनका निर्वाह होता रहता है। इतना जरुर है कि इनके कारण एक ओर जहाँ इन पात्रों को एक नीरस दिनचर्या झेलनी पडती है वहीं तीर्थाटन जैसे धार्मिक कार्यो के कारण उनकी दिनचर्या में एक

बदलाव भी आता है। यद्यपि यह बदलाव उन्हें आनंद नहीं देता, एक धार्मिक संतोष भर देता है। यात्रा के अन्य दृश्य उनके लिए गौण हो जाते हैं, और केवल कोई खास देव–मंदिर या किसी खास नदी में स्नान उनके लिए मुख्य हो जाता है। मूर्ति की सुन्दरता, नदी के विस्तार, उसके प्रवाह, उसकी निर्मलता, उसकी ध्वनि उन्हें आकर्षित नहीं करती। इस प्रकार वे एक सीमित सुख ही उठा पाते हैं। फिर भी इस बहाने वे एक बंद दिनचर्या से बाहर निकलते हैं। लेकिन तीर्थाटन जैसे धार्मिक कार्यो का यह सीमित आनंद भी सभी मध्यवर्गीय पात्रों को प्राप्त नहीं होता। इसके लिए जो पारिवारिक तथा आर्थिक सुविधायें चाहिए वह सबके पास भी नहीं होतीं। ऐसी स्थिति में अधिकांश मध्यवर्गीय पात्र एक बँधी हुई दिनचर्या और पंचांग में दिए गए विधि–निषेधों को ही जीते रहते हैं।

विभिन्न रुढ़ियाँः

समाज विशेष रूप से मध्यवर्गीय परिवार की सांस्कृतिक चेतना अनेक रुढ़ियों से ग्रस्त है। प्रमुख और दूर तक बनी रहने वाली रुढ़ियों केअलावा अनेक छोटी–छोटी रुढियों का निर्वाह भी समाज में मध्यवर्ग के द्वारा होता है। जितना समय और शक्ति इनके निर्वाह में व्यय होते हैं उसका कोई हिसाब नहीं। इनके निर्वाह की कोशिश और असफल होने पर चारों ओर से होने वाली टीका–टिप्पणियों से मानवी मेघा निरन्तर कुण्ठित होती रहती है। रुढ़ियाँ कहीं लिखित रुप में नहीं हैं। इसलिए इनका निर्वाह परम्परागत ढंग से अथवा पूछ–पूछकर होता है। चूँकि सबकी राय एक जैसी नहीं होती इसलिए आलोचना के लिए गुंजाइश बराबर बनी रहती है और इसका फायदा बराबर उठाया जाता है। रुढ़ियाँ जहाँ कहीं दैनिक व्यवहार में जरुरत से ज्यादा पैदा करती है वहाँ इनका कोई न कोई काट भी ढूँढ लिया जाता है।

भाग्यवाद एवं भविष्यफल में विश्वासः

मनुष्य के यत्न सदैव सफल नहीं होते। यत्नों और लक्ष्यों के बीच दूरी बनी रहती है। विशेषकर मध्यवर्गीय परिवार अपनी इस असमर्थता के कारण भाग्य का भरोसा करने के लिए विवश होते हैं। प्रायः उसी तरह सभी वर्गों में भविष्यफल में विश्वास होता है। कोई भी बड़ा व्यवसाय करना हो, घर में शादी–ब्याह करना हो तो जन्म–कुण्डलियाँ देखकर ही कोई काम होता है।

पुत्र का महत्वः

मध्यवर्ग में पुत्र का विशेष महत्व है क्योंकि लोगों में ऐसी मान्यता है कि पुत्र, पुत्र होता है। वह वंश चलाता है। वह श्राद्ध करता है। वह अग्नि न दे, जल न दे तो उद्धार नहीं होता। यहाँ तक कि आज भी लड़कियों से ज्यादा लड़कों का महत्व है। लड़कियाँ होना शुभ नहीं माना जाता।

मनौतीः

मध्यवर्ग में मनौती पर बहुत विश्वास होता है। अगर ऐसा–ऐसा हो जाएगा तो मैं तीर्थ करूँगा। पूजा करूँगा, व्रत करूँगा, मंदिर में भेंट चढ़ाऊँगा आदि–आदि। संतानरहित संतान की, गरीब धन की तथा इन दोनों से भरपूर व्यक्ति यश लाभ की कामना करते हैं। विभिन्न देवी–देवताओं में आस्था रखने वाले अपने–अपने मन में एक संकल्प निर्धार करते हैं। उसकी पूर्ति हेतु देवता विशिष्ट से निवेदन करते हैं। जब मनोकामना पूर्ण हो जाती है तो अपनी श्रद्धानुसार या फिर जो संकल्प किया होता है उसी के आधार पर मध्यवर्गीय परिवार उसकी पूर्ति करते हैं।

समकालीन धार्मिक परिस्थितियों के संदर्भ में धर्म की सैद्धान्तिक अवधारणा और व्यावहारिकता का निरुपण किया जाता है। भारतीय परिवारों में वर्ण व्यवस्था, धार्मिक आधार और जाति भेद, मूर्ति पूजा, व्रत तथा उपवास विधान, प्रायश्चित, तंत्र, मंत्र, भूत–प्रेत आदि की मान्यता को आधार बनाकर धार्मिक विश्वासों के बदलते हुए रूपों का उद्‌धाटन किया गया है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से स्वतंत्रता के पूर्व ही भारत में नवजागरण के आवाहनकर्ता, अनेक धार्मिक आन्दोलन उद्‌भूत और प्रसारित हो चुके थे। इनका संचालन राष्ट्रीय स्तर पर हुआ था। महात्मा गाँधी जैसे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के नेताओं ने भी धर्म के प्रति अपना दृष्टिकोण प्रकट करते हुए यह मत व्यक्त किया कि जो सत्य को परम धर्म मानता है और सत्य का शोधक है वह सत्यशोधक सब धर्मों के प्रति समभाव रहेगा। गाँधीजी की इन धार्मिक स्थापनाओं ने राष्ट्रीय स्तर पर विशेष रूप से ग्राम जीवन के धार्मिक स्वरूप को विशेष रूप से प्रभावित किया, क्योंकि ग्राम जीवन में धर्म का स्वरूप अपेक्षाकृत अधिक रुढ़िवादी था। ग्राम जीवन में धर्म के रुढ़ रूप को बदलने का श्रेय वैज्ञानिक और औद्योगिक उन्नति को भी है। इसके अतिरिक्त धार्मिक चेतना का जागरण आज के युग में जिन रूपों मे हुआ है उनकी पृष्ठभूमि मे परंपरागत विद्रोह की भावना भी मूल रही है। आज का व्यक्ति धर्म को ईश्वरीय

ज्ञान का भंडार नहीं मानता और न ही किसी विशेष क्षति प्राकृतिक जगत का प्रतिबिंब स्वीकार करता है।

''धर्म'' शब्द की व्याख्या प्रदान करते हुए महात्मा गाँधी ने एक स्थल पर कहा था 'धर्म वह है जो मनुष्य आंतरिक सत्य से सम्बन्ध स्थापित करता है और सदा उसको ही पवित्र मानता है। धर्म मनुष्य स्वभाव का वह स्थायी तत्व है जो पूरी अभिव्यक्ति के लिए बड़े से बड़ा त्याग करने को तैयार रहता है और जिसके कारण आत्मा तब तक नितान्त व्याकुल रहती है, जब तक वह अपने आप को और अपने नियामक को पहचान नहीं लेती और दोनों के तादात्म्य की अनुभूति नहीं कर लेती।' संक्षेप में धर्म का अर्थ है ''विश्व के सुव्यवस्थित नैतिक शासन में विश्वास।''[22]

स्वातंत्र्योतर धार्मिक पृष्ठभूमि के संदर्भ में यहाँ पर इस तथ्य की ओर संकेत करना असंगत न होगा कि पूर्व युगों में जहाँ ग्राम जीवन विशुद्ध धार्मिक विश्वासों पर आधारित था और मूर्ति चोरी अथवा अन्य दुष्कतृत्य मंदिरों के संदर्भ में असंभव थे वे ही साम्प्रतिक युग में नगरों के समान ही यहाँ पर भी आम हो गये हैं। धर्म के प्रति जन सामान्य में गम्भीर आस्था है। अब मनुष्य के धार्मिक और अधार्मिक कार्यो में अंतर बुद्धि द्वारा ही करता है। अब मनुष्य सर्वोपरि हो गया है। अब उसकी क्रियाएँ ही उसे नियंत्रित करती हैं। अतः वैज्ञानिक उत्पादनों के कारण मनुष्य भौतिकवादी होता जा रहा है। अब वह केवल प्रकृति पर ही निर्भर नहीं रहता। विज्ञान ने उसके जीवन में चेतना का संचार किया।

वास्तव में बीसवीं शताब्दी में भारत में धर्म सम्बंधी अनेक आन्दोलन हुए। ये आन्दोलन प्रमुखतः सुधारपरक थे। उनके फलस्वरूप धर्म सम्बंधी रुढ़ियों एवं मान्यताों का निर्मूलन हुआ तथा धर्म के वास्तविक स्वरूप को भी मान्यता मिली। इस प्रकार धार्मिक अंधविश्वास समाप्त होने लगे तथा मानवतावादी दृष्टिकोण का ही प्रसार किया गया। धार्मिक सुधार के लिए इस युग के विभिन्न समाज सुधारकों ने बहुसंख्यक आन्दोलन आयौजित किए। धार्मिक शोषण, अंधविश्वासों, राग-द्वैष, वैमनस्य आदि भावनाओं का विरोध करना उसका मुख्य उद्देश्य था।

मध्यम वर्गः

विवेचित युग की एक महान् सामाजिक घटना है मध्यमवर्ग का उदय। 19वीं शताब्दी से पहले भारत में इस वर्ग का कोई अस्तित्व नहीं था। केवल दो ही वर्ग थे– उच्च वर्ग एवं निम्न वर्ग। परन्तु अंग्रेजों ने अपनी प्रशासकीय आवश्यकता की पूर्ति के लिए नवीन अंग्रेजी शिक्षा की नींव डाली। सर्वप्रथम सन् 1800 ई. में कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना हुई। सन् 1857 ई. तक आते–आते तो बम्बई, मद्रास और कलकत्ता में विश्वविद्यालयों की स्थापना भी हो गई, जिससे उच्च शिक्षा के प्रकार व प्रसार में यथेष्ट सहायता हुई। इस नवीन शिक्षा पद्धति ने मध्य वर्ग को जन्म दिया। यह नवोदित मध्य वर्ग इस युग की चेतना का प्रमुख संवाहक रहा है, ''क्योंकि इस मध्य वर्ग ने यूरोपीय ज्ञान–विज्ञान की शिक्षा प्राप्त की थी, और वह बौद्धिक पिपासा और प्रगति की आकांक्षा से ओतप्रोत था और उसी पर समाज के नवनिर्माण का उत्तरदायित्व था, क्योंकि उच्च वर्ग स्थान–च्युत आर्थिक विषमताओं से पीड़ित और नवीन प्रभावों से दूर था और बहुसंख्यक निम्न वर्ग अशिक्षित तथा अन्धकार में लिप्त, फलतः कुछ कर सकने में असमर्थ था।''[23]

बहुसंख्यक समाज में सभी लोग एक ही श्रेणी के नहीं हो सकते। इसलिए ऊँच–नीच वर्गभेद, पूँजीपति व सर्वहारा वर्ग का अन्तर तो समाज में निरन्तर चलता आ रहा है। राजा एवं प्रजा, मिल–मालिक एवं मजदूर, शोषक एवं शोषित का द्वन्द्व तो सम्पूर्ण मानव जाति के इतिहास में लक्षित होता है। आज समाज तीन वर्गो में विभक्त है–उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग और निम्न वर्ग। समाज का उच्च वर्ग जो अभिजात वर्ग है, वह शोषक है। वह निम्न वर्ग का शोषण करता है। मध्य वर्ग इन दोनों के बीच वह वर्ग है जो आत्मनिर्भर है और अपने संघर्ष पर ही जीवन–यापन करता है।

आजादी के बाद देश की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक स्थितियों में परिवर्तन के कारण समाज पर भी उसका अभिन्न प्रभाव पड़ा। मध्यम वर्ग भी इस प्रभाव से अछूता न रहा। परिणामस्वरूप आर्थिक कठिनाईयों से त्रस्त संयुक्त परिवारों की परम्परा में दरार उत्पन्न हो गयी, और सम्बन्धों में अलगाव उत्पन्न हो गया। स्वतंत्रता के पूर्व नारी की तुलना में स्वातंत्र्योतर नारी के अधिकारों में परिवर्तन आ गया। समाज में प्राचीन मूल्यों और मान्यताओं की स्थापना का दौर प्रारम्भ हुआ। ''सामाजिक और आर्थिक संघर्ष की स्थिति में शिक्षित मध्य वर्ग सबसे अधिक क्षुब्धावस्था में था। अतः नैतिक मूल्यों एव जीवन के आदर्शों के

प्रति सबसे अधिक आस्थाहीन यही वर्ग था।''[24]

मध्यमवर्गीय समाज में उच्च वर्ग की नकल करने की प्रवृत्ति की मानसिकता के कारण मानसिक तनाव उत्पन्न होने लगा। यह वर्ग ठाट–बाट से जीवन–यापन करने की महत्वाकांक्षा करता रहा।

मोहन राकेश के उपन्यास 'अंधेरे बंद कमरे' में मध्यवर्गीय जीवन का चित्रण हुआ है, वह पुराने मूल्यों को तोड़कर एक नये मूल्य में रूपान्तरित किया गया है। उपन्यास के केन्द्र में प्रेम के अन्तर्द्वन्द की कथा है। यहाँ स्त्री–पुरुष एक ऐसे 'अंधेरे बंद कमरे' में हैं जिसमें वे एक–दूसरे से प्रेम करते है और जितनी सन्निकटता से प्रेम करते हैं, उतने ही अकेले हो जाते हैं। प्रेम की उद्भावना से अभिभूत हो, वे जितना एक–दूसरे से जुड़ने की कोशिश करते हैं, उतने ही अपरिचित हो जाते हैं। उपन्यास में 'अर्थ' से 'इति' तक नीलिमा और हरबंश के जीवन का तनाव चित्रित हुआ है। "नीलिमा और हरबंश एक अंधेरे बन्द कमरे में रहने के इतने आदी हो चुके हैं कि किश्तों के बाहर एक खुले और नामहीन सम्बंध की बात वे सोच ही नहीं सकते। सोचना चाहें तो कमरे की दीवारें टूटती हैं।''[25]

विदेशी सभ्यता और संस्कृति के सम्पर्क से अंग्रेजी के रंग में रंगे इन मध्यमवर्गीय लोगों में चेतना का प्रस्फुटन हुआ। राजनीतिक और सामाजिक दृष्टि से आक्रमक इन लोगों ने स्वतंत्रता आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया। किसी भी देश की स्वतंत्रता प्राप्ति के संघर्ष में शिक्षित मध्यवर्ग के लोगों के प्रत्यत के बिना आज़ादी की लड़ाई लड़ना कठिन है। यह एक ऐसा वर्ग है जो प्राचीन मान्यताओं का विरोध करके नई मान्यताओं को जन्म देता है।

प्रायः सभी महान् साहित्यकार, कहानीकार, उपन्यासकार, कलाकार भी इसी मध्यमवर्ग की उपज हैं। साहित्यकार जिस समाज में रहता है प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उस समाज की गतिविधियों को अपनी रचनाओं में अभिव्यक्त करता है। समाज में रहकर वह विभिन्न दृष्टिकोणों से समाज पर चिन्तन–मनन करता है, और उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप समाज के वास्तविक रूप को उभारता है।

आर्थिक अभाव और महत्वाकांक्षाएँ: मध्यम वर्ग को ठीक से समझने के लिए हम उन्हें निम्न बिन्दुओं में बाँट सकते हैं।

किसी भी समाज का सम्पूर्ण विकास उसके आर्थिक ढाँचे पर ही निर्भर करता है। अर्थ की व्यवस्था का प्रभाव सामान्यजनों पर पड़ता ही है। परिवार, समाज, रजनीति, साहित्यकला, धर्म का विकास अर्थ पर ही आधारित है। अर्थ ही वह शक्ति है जो सारे समाज की बागडोर को थामे है। अर्थव्यवस्था में परिवर्तन आते ही सारे सामाजिक स्तर में परिवर्तन दिखाई देता है।

आज समाज में उच्च वर्ग के सामने तो भौतिक स्तर सम्बन्धी कोई समस्याएँ नहीं हैं। पूँजी के आधार पर वह सारी समस्याओं का हल ढूँढ लेता है। निम्न वर्ग में तो महत्वाकांक्षा की लहर ही तरंगायित नहीं होती। भूख की समस्या उसके लिये सर्वोपरि है। सुबह भोजन मिल जाने पर वह शाम के भोजन की व्यवस्था के लिए चिंतातुर हो जाता है। मध्यम वर्ग को सबसे ज्यादा संघर्ष का सामना करना पड़ता है। महत्वाकांक्षा होने के कारण यह वर्ग न तो इच्छाओं की पूर्ति में सक्षम हो पाता है और न ही इच्छाओं का दमन कर सकता है। परिणामतः सबसे अधिक घुटन एवं तनाव अथवा निराशा इसी वर्ग में फैली दिखाई देती है। अर्थाभाव के कारण वह असंतुष्टि से आक्रांत रहता है और विकसित नहीं हो पाता। छोटे–छोटे सुखों की परिपूर्ति न होने से वह असंतुलित होकर निष्क्रिय और आत्मलीन हो गया है। दूषित शिक्षा व्यवस्था के कारण बेकारी से उत्पन्न समस्याओं का सामना भी इसी वर्ग को सबसे ज्यादा करना पड़ता है।

मध्यमवर्गीय समाज के व्यक्ति के लिए कम रूपयों में परिवार की व्यवस्था प्रबंध के तनाव के कारण चिड़चिड़ापन और असंतोष उत्पन्न हो जाता है। परिणामतः विवाह के अवसरों पर वधू पक्ष की ओर से दहेज मिलने की उत्कट इच्छा मध्यवर्ग के लोगों में उत्पन्न हो जाती है। वे ज्यादा से ज्यादा वस्तुएँ एवं धन प्राप्त करने की लालसा पर नियंत्रण नहीं कर पाते।

मध्यवर्गीय समाज के लोगों के सामने अर्थाभाव के कारण परिवार के सदस्यों की ओर उनकी आवश्यकताओं की ओर भी सही ढंग से ध्यान न दे पाने की विवशता होती है। वे अनेक महत्वाकांक्षाएँ लिये हुए बहुत कुछ करना चाहकर भी नहीं कर पाते।

''डॉ. राही मासूम रज़ा का 'शहर में घूमता आइना' उपन्यास मध्यवर्ग, विशेषतः निम्न मध्यवर्ग को लेकर चलता है। चेतन इस निम्न मध्यवर्गीय समाज की मानसिकता को अग्रसर करता हुआ दिखता है। उसका व्यक्तित्व 'मध्यवर्गीय शुतुरमुर्ग' का है। चेतन यौन कुण्ठा और आर्थिक अभावों से ग्रसित है। वह हीनता ग्रंथि का भी शिकार है।''[26]

प्रदर्शन की प्रवृत्तिः

उच्च वर्ग की देखा–देखी मध्यवर्गीय समाज के लोगों में भी दिखावटीपन और पाखण्ड काफी हद तक़ भरा हुआ है। हम अपने वास्तविक रूप को दूसरों के सामने उजागर नहीं करना चाहते, भीतर से खोखले होकर भी ऊपर ठाट–बाट में विश्वास करते हैं। यही कारण है कि दोहरी जिन्दगी जीने के लिए आज का मध्यवर्गीय मनुष्य विवश हो गया है। मध्यवर्गीय यथार्थ को छिपाकर (क्योंकि वह कटु होता है), कृत्रिमता एवं बनावटीपन का आश्रय लेता है। निम्न वर्ग और उच्च वर्ग दोनों उन्मुक्त हैं। दोनों नँगे हैं, एक का नंगापन मजबूर और मगलूज है तो दूसरे का स्वैच्छिक और मगरुर। सामाजिक मर्यादाओं का उत्तरदायित्व इन पर नहीं है। जबकि मध्यवर्ग समाज की सारी परम्पराओं को अपने गले में डालकर वह घूम रहा है। अतः वह कुंठित है। प्रदर्शन–प्रियता इसी कुण्ठा का परिणाम है।

हमारे देश में एक ऐसा वर्ग है जिसे वह अपनी देह पर की तथा घर की प्रत्येक चीज आयतित होने में पाश्चात्य जीवन के सही–गलत सभी बाहरी तौर–तरीकों को अपनाने तथा अपने वैभव के प्रदर्शन में गर्व का अनुभव होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह प्रदर्शन–प्रवृत्ति लघुता ग्रंथि की द्योतक है। ''रुकोगी नहीं,.. राधिका?'' उपन्यास में ''राधिका की भाभी प्रारम्भ में राधिका के स्वागत में अति उत्साह से काम लेती है क्योंकि वह राधिका को सभा–सोसायटी में ले जाकर 'फारेन रिटर्न' ननद के अपने अहं की तुष्टि चाहती है।''[27] ''उत्तरी भारत में रहने वाले प्रवीण को हिन्दी बोलने की आदत के छूट जाने का तथा अपने बच्चों को अंग्रेजी के अतिरिक्त अन्य किसी भारतीय भाषा के नहीं आने का मलाल नहीं, गर्व है।''[28]

रुढ़ियों में जकड़ः

हमारा समाज विशेषकर मध्यवर्गीय परिवार प्रारंभ से ही रुढ़ियों में जकड़ा हुआ है। पुराने संस्कारों, पुरानी मान्यताओं को वह छोडने को तैयार नहीं है। आज भी हमारे परिवारो में बेटे और बेटियों में भेदभाव किया

जाता है। घर की बहुओं को आज भी पूरी तरह से स्वतंत्रता नहीं है। आज भी हमारे मध्यबर्गीय परिवारों में बहुओं का शोषण किया जाता है। बहुत सा धार्मिक विधि–विधान भी मध्यवर्ग के साथ जुड़ा हुआ है। "धार्मिक आस्था एवं धार्मिक विधि–विधान का होना स्त्री पात्रों में ही नहीं, बल्कि पुरुष पात्रों में भी विद्यमान है। 'यह पथबन्धु था' में नारायण बाबू के बड़े भाई गोवर्धननाथ अपंग हैं। फिर भी – उनका नियम था कि सवेरे गिरिवर वाले बगीचे की ओर निकल गये। वही संध्या करके श्रृंगार के दर्शन के लिए पालकी पर निकल जाना।"[29]

HANSA MEHTA LIBRARY UNIVERSITY OF BARODA

पारिवारिक विघटन और सम्बन्धाभाव:

परिवार मानव जीवन की आधारशिला है। सुबह द्वार से निकला हुआ व्यक्ति दिनभर कार्यरत, क्लान्त शिथिल होकर संध्या समय जब घर लौटता है तो उसे अपने परिवार में ही शान्ति–सुख का आभास मिलता है। पारिवारिक व्यक्तियों के पारस्परिक माधुर्यपूर्ण व्यवहार पारिवारिक सम्बन्धों को सुदृढ़ एवं सौहार्दपूर्ण बनाता है। हमारे देश में प्राचीन काल से चली आने वाली संयुक्त परिवार की परम्परा की सुदृढ़ नींव आज हिलती हुई दिखाई दे रही है। उसकी जड़ें नष्टप्राय हो रही हैं। जिससे संयुक्त परिवार की आधारशिला कई खण्डों में विभाजित हो गई है। प्राचीन समय में परिवार का मुखिया अर्थोपार्जन करता था और परिवार के सारे सदस्य उसकी आय पर निर्भर रहते थे किन्तु आज की परिस्थितियों में यह सम्भव नहीं है। अर्थाभाव की विकटता से आज संयुक्त परिवार की परम्परा विघटित हो रही है। अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से, बेरोकटोक जीवनयापन करने की प्रवृत्ति के विकास से, स्वतंत्र रहने की इच्छा ने संयुक्त परिवार को छिन्न–भिन्न कर दिया। और एकल परिवारों का जन्म हुआ। पुरानी मान्यताओं के विरोध रूप में व माता–पिता के अपने जीवन में हस्तक्षेप से मुक्त होने के लिए संयुक्त परिवार टूटने लगे। प्राचीन समय में परिवार के सदस्य एक सूत्रबद्ध थे। सारे परिवार के उत्तरदायित्वों का सब मिलकर वहन करते थे। एक ही समस्या दूसरे को भी आघात पहुँचाती थी। किन्तु धीरे–धीरे पढ़–लिखकर प्रत्येक व्यक्ति आत्म–केन्द्रित होकर अपने परिवार के लिए अर्थोपार्जन के लिए प्रयत्नशील होने लगा और परिवार से अलग होकर अपनी पत्नी एवं संतान के साथ पृथक गृहस्थी बसाने की इच्छा जागृत हुई। संयुक्त परिवारों से अलग होते ही सदस्यों में आपसी सम्बंधों दरार पड़ने लगी, अलगाव पनपने लगा। युवा पीढ़ी में तो परिवार के बुजुर्गों से मत–वैभिन्य होने के कारण उनके प्रति विकर्षण उत्पन्न हो गया है।

मानव–जीवन के सारे रिश्ते आज धन की तराजू में तोलकर ही आंके जाते हैं। फलतः मध्यवर्गीय संयुक्त परिवार बड़ी तीव्रता से विनष्ट हो रहे हैं। आर्थिक रूप से यदि परिवार का प्रत्येक सदस्य आत्मनिर्भर नहीं है, तब तो टूटन निश्चित है। श्री नरेश मेहता का 'यह पथबन्धु था' और मोहन राकेश का 'अंधेरे बंद कमरे' मध्यमवर्गीय पारिवारिक विघटन के अच्छे उदाहरण हैं। 'यह पथबन्धु था' में श्रीनाथ कहते हैं ''इसी दिन के लिए घर की ये चार दीवारें खडी की थीं कि इनकी नींव में छेद कर ये तीनों पानी के रेले चले जाएँ? एक हमें अपमानित कर गया है, दूसरा हमसे दुःखी होकर गया है और तीसरा ऐसे गया मानो उसे गोद लिया था, और अब हमें छोड़ गया है।''[30]

राजेन्द्र यादव के 'सारा आकाश' उपन्यास में पारिवारिक समस्याएँ अनुस्यूत हैं। ''सुशिक्षित बहू का सिर पर पल्ला न रखना, हाथ में घड़ी बाँधकर भोजन बनाना, बडी बहू की अपेक्षा सुन्दर होना आदि कुछ ऐसी बातें हैं जिनके आधार पर प्रभा का परिवार के सदस्यों से मेल हो ही नहीं सकता। जैसी पूर्वधारणा अन्य संदस्यों में विद्यमान है। रुढ़िवादी सास–ससुर प्रभा से अपेक्षित दहेज न लाने के आधार पर नाराज हैं। इसलिए उसके प्रति कभी भी सहज नहीं हो पाते।''[31] संयुक्त परिवार में मानवीय आकांक्षाएँ अपना दम घोंटकर समाप्त हो जाती हैं। सुख प्राप्ति की उम्मीद में सारा जीवन यों ही व्यतीत हो जाता है। परिवार में रात–दिन चखचख चलती रहती है। सब अपने–अपने में लीन रहते हैं। सभी की प्रवृत्ति आत्मकेन्द्रित हो जाती है। प्रातःकाल तीन बजे से उठकर रात्रि बारह बजे तक चूल्हे–चौके में खटने वाली प्रभा के प्रति परिवार के सदस्यों का व्यवहार रुक्ष और कठोर है। किसी को उसके खाने–पीने, ओढ़ने–पहनने की चिंता नहीं है। समर के विवाह के पहले ही दिन से घर में मनमुटाव शुरु हो गया था। इस प्रकार के पारिवारिक वातावरण में सम्बन्धहीनता के अतिरिक्त और क्या अपेक्षा की जा सकती है?

मध्यवर्गीय परिवारों में सुशिक्षित लड़कियाँ भी पारिवारिक उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं हो पातीं चाहे वह डॉक्टर हो या प्राध्यापिका, विवाहोपरांत पति, संतान व परिवार के अन्य सदस्यों के प्रति वह कर्तव्यच्युत नहीं हो पाती। ''संयुक्त परिवार का शाब्दिक आदर्श चाहे जितना महान हो, उसका सबसे बड़ा नुकसान यह होता है कि परिवार का कोई भी सदस्य अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर पाता। सारा समय या तो समस्याएँ बनाने में या बनी–बनायी समस्याओं को सुलझाने में जाता है। लड़ाई–झगड़ा, खींचतान, बदला, ग्लानि सब मिलकर वातावरण ऐसा विषैला और दमघोंटू बना रहता है कि आप साँस न ले सकें। इसका

कारण आर्थिक ही है। परिवार में रहकर नवयुवक अपनी इच्छाओं का गला घोंटने को मजबूर हो जाते हैं।"[32] परिणामस्वरूप आपसी सम्बन्धों में कोई समझौता नहीं हो पाता। संयुक्त परिवार में माता–पिता और संतान में मतवैभिन्य स्वाभाविक है। माता–पिता एक विशिष्ट प्रकार का अनुशासन विवाहोपरांत भी अपनी संतान पर लगाना चाहते हैं। परिणामतः पुत्र अपनी इच्छा से जी नहीं पाता। माता–पिता की इच्छानुकूल व्यवहार करने की मानसिक तैयारी करने पर भी पुत्र के मन में अपनी पत्नी के प्रति यदि कर्तव्य जागरण होता है, और वह पत्नी के प्रति उस कर्तव्य का निर्वाह करना चाहता है तो माता–पिता उसे पुत्र की अनाधिकार चेष्टा समझते हैं और उन्हें ऐसा लगता है कि बेटे पर उनका अधिकार कम हो गया है। विवाह के उपरान्त वह माता–पिता की उपेक्षा करके पत्नी के प्रति उन्मुख हो गया है। ऐसा आरोप लगाकर अपने और बेटे–बहू के सम्बन्धों में संतुलन बनाये रखने की अपेक्षा उसे मानसिक रूप से विचलित होने के लिए बाध्य कर देते हैं। परिणामतः वह माँ–पिता के समस्त पारिवारिक उत्तरदायित्व और निजी जीवन की मधुरता के रसास्वादन के बीच में त्रिशंकु–सा लटकता रह जाता है, दोनों के बीच में संघर्षरत रहता है।

परिवार के बुजुर्ग चाहते हैं कि उनकी संतान माता–पिता की इच्छा से विवाह संपन्न करे। उनकी व्यक्तिगत इच्छा–अनिच्छा को मान्यता नहीं दी जाती। परिणामस्वरूप मध्यवर्गीय परिवारों में नवयुवक–युवितियाँ विवाह के सन्दर्भ में व्यक्तिगत निर्णय लेने को मजबूर हो जाते हैं। जहाँ–जहाँ परिवार के सदस्य व्यक्ति रास्ते में रुकावट बनते हैं, वहाँ वे सम्बन्धों को तोड़कर चले जाते हैं। वे माता–पिता की भावनाओं को रौंदकर संयुक्त परिवार के घेरे से मुक्त हो जाते हैं। प्राचीन पीढ़ी के अभिभावकों को ही स्वयं को बदलना होगा एवं युवा पीढ़ी की कोमल भावनाओं का सम्मान करना होगा। तभी पारिवारिक विघटन को रोका जा सकता है। युवा वर्ग के जोश, विद्रोह एवं उमंग को समझते हुए पुरानी पीढ़ी को उनके अनुकूल अपने को ढालना होगा। संयुक्त परिवार के विघटन से जो एकाकी परिवार बना है, वह टूटने की प्रक्रिया में है। सारे सम्बन्ध गड़बड़ा गये हैं, और पुनर्व्यवस्था की माँग करते हैं।

'यह पथबन्धु था' उपन्यास में पारिवारिक विघटन के बहुत से उदाहरण मिलते हैं जैसे – श्रीनाथ कहते हैं "मुझे बड़ा दुःख है श्री की माँ! कि मैं आज जब पट्टी हाटकर देखता हूँ तो तीनों लड़के मेरी आँखों से कहीं दूर चले गये हैं।"[33] श्रीधर की माँ भी ऐसा ही सोचती है अगर पति चौकस रहे होते तो यह नौबत नही आती। "क्या ही अच्छा होता कि यदि वे इस तरह तटस्थ देखते रहने के साथ–साथ कहीं बागडोर

थामे रहते तो आज यह तीन तेरह की नौबत तो न आती।''[34] ऐसे ही कई उदाहरण हमारे पारिवारिक उपन्यासों में मिलते हैं।

नारी शिक्षाः

''नारी को 'आधी दुनिया' कहा जाता है। वह एक ऐसी 'आधी दुनिया' है जो कदम-कदम पर पुरुष द्वारा अनुशासित होती रही है, तरह-तरह से परिभाषित होती रही है। उस पर समग्रता से कभी विचार नहीं हुआ, जबकि वह परिवार में अहम् भूमिका निभाती है। नारी के बिना परिवार की कल्पना ही नहीं की जा सकती। जिस प्रकार हाथी के चार भिन्न अंगों को छूकर चार अंधों ने हाथी के विषय में एक सम्पूर्ण मानस चित्र बनाया और उसकी 'प्रमाणिकता' को लेकर वे हठपूर्वक आपस में लड़ते हैं, ठीक उसी प्रकार सदियों से दार्शनिक, विचारक, साहित्यकार आदि अपनी दृष्टिविशेष से नारी के एक पक्ष को संपूर्ण नारी समझने-समझाने की भूल करते रहे हैं। यही कारण है कि नारी एक साथ देवी और भोग्या, माया और शक्ति, श्रद्धा और ताड़न की अधिकारी समझी जाती रही है। ये संज्ञाएँ नारी की चरित्रगत विशेषताओं को उभारती अवश्य हैं, नारी को परिभाषित नहीं कर सकतीं।''[35]

नारी का स्वरूप ब्रह्म की तरह इतना सूक्ष्म, व्यापक, अखण्ड एवं अलौकिक नहीं कि नेति-नेति कहकर व्यक्ति अपनी पराजय स्वीकार कर ले। नर अर्थात् पुरुष की भाँति नारी भी एक सामान्य प्राणी है। प्रजनन-क्षमता एवं विशिष्ट शारीरिक संरचना के कारण वह पुरुष से भिन्न है, उसका कार्यक्षेत्र और प्रकृति भी पुरुष जैसे नहीं, लेकिन वह पुरुष के प्रतिकूल नहीं है। वस्तुतः नारी पुरुष की परस्पर पूरकता सृष्टि का अन्यतम रहस्य है। यह सत्य है कि समय के साथ-साथ पुरुष के प्रबल से प्रबलतर होते चले जाने के कारण नारी अपनी स्वतंत्र सत्ता खोकर पुरुष की अनुगूंज मात्र बनकर रह गई, पुरुष उसका भाग्यविधाता और जीवननियन्ता बन गया, तो भी उसके बिना पुरुष और पुरुष ही क्यों, समाज एवं राष्ट्र का विकास सम्भव नहीं। इसी तथ्य को दृष्टिगत कर 19वीं शताब्दी में भारतीय नवजागरण आन्दोलन ने नारी को केन्द्र में रखकर उसकी स्थिति में सुधार के लिए अथक प्रयास किए। सामाजिक कुरीतियों की बेड़ियों से मुक्त शिक्षा के प्रभाव से प्रदीप्त, आर्थिक स्वावलम्बन की ओर गतिशील जो नारी आज हमें दिखाई पड़ती है, उसके पीछे समाज-सुधार के राजनेताओं एवं महिला आन्दोलनकारियों के सवा सौ वर्ष के संघर्ष का रोचक इतिहास है।

प्राचीन भारतीय परम्परा में नारी को पुरुष की अर्धांगिनी एवं सहधर्मिणी स्वीकार किया गया है। वहाँ वह पुरुष से हीन नहीं है, वह एकमात्र भोग्या भी नहीं है, बल्कि पुरुष के जीवन की एक मूलभूत आवश्यकता है। वह पुरुष की प्रतिद्वन्द्विनी नहीं है, उसकी पूरक है। इसलिए उसके बिना पुरुष का जीवन अधूरा है। ''यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः।''[36] कहकर उसे महिमामंडित किया गया है और सभी महान् पुरुषों की प्रेरक शक्ति के रूप में नारी का उल्लेख कर उसे गौरवान्वित किया गया है। किन्तु नारी की यह श्रेष्ठता सदैव बनी नहीं रही। समय के साथ–साथ उसकी स्थिति ह्रासोन्मुख होती रही। मुस्लिम शासन के अधीन उसकी स्थिति इतनी अधिक शोचनीय हो गई कि घर की चारदीवारी की लक्ष्मणरेखा में उसे अपनी समस्त गतिविधियाँ व आकांक्षाएँ कैद करनी पड़ीं। घर की यह चारदीवारी उसके लिए जीवन और जगत का एकमात्र यथार्थ थी और यही उसकी कल्पनाओं का विचरण स्थल भी।

नारी की ह्रासोन्मुख स्थितिः उत्तरदायी कारण

क1 : नारी की शारीरिक संरचना

क2 : आर्थिक क्षेत्र में नारी की निष्क्रियता

''सृष्टि के प्रारम्भ में – पाषाण युग में – नारी पुरुष के समान स्वतंत्र एवं आत्मनिर्भर थी। परिवार एवं समाज के अस्तित्व में न आने के कारण वह समस्त अंकुशों–वर्जनाओं से मुक्त अपने आप मे एक पूर्ण इकाई थी। लेकिन फिर भी गर्भावस्था, प्रसूतिकाल तथा शिशुपालन में उसे पुरुष का आश्रय लेना'' पडता था।''[37] फलतः स्त्री पुरुष की शारीरिक भिन्नताओं के कारण स्वतः श्रम–विभाजन भी हो गया था। स्त्रियाँ अपने निवास के समीप रहकर भोजन सामग्री जुटाती थीं और पुरुष शिकार की तलाश में अपने निवास से दूर भटकता था। यह श्रम–विभाजन स्त्री–पुरुष की हीनता और श्रेष्ठता का प्रतीक नहीं था, बल्कि एक दूसरे की शारीरिक विशेषताओं का द्योतक था। दूसरे, चूँकि स्त्री घर के समीप रहकर कृषिकार्य करती थी, अतः समूह अथवा कबीले के लिए आवश्यक भोजन उसके माध्यम से मिलता था। पुरुष की भूमिका मांस के रूप में अतिरिक्त एवं स्वादिष्ट भोजन सामग्री लाने में थीं।''[38] अतः शारीरिक दृष्टि से पुरुष से दुर्बल होते हुए भी स्त्री का सम्मान किया जाता था।

''किन्तु यह कार्य विभाजन अन्ततः नारी की स्थिति में ह्रास का कारण बना। निवास से दूर जंगल में इधर–उधर भटकने के कारण पुरुष नई–नई चीजों के संपर्क में आने लगा था। पशुओ को सीधा कर

उन्हें पालतू बनाया और धातु के आविष्कार के साथ हल भी बना डाला, फिर पशुओं को हल में जोतकर उसने कृषि कार्य किया तो फसल पहले से अधिक मात्रा में प्राप्त हुई।''[39] इस प्रकार एक साथ वह तीन उपयोगी वस्तुओं का स्वामी बन बैठा – पशुधन, हल तथा अन्न। परिणामस्वरूप समूह के लिए भोजन सामग्री जुटाने में स्त्रियों का महत्व पहले जैसा नहीं रहा। स्त्रियों की स्थिति (स्टेटस) भी पहले की भाँति पुरुषों के समान नहीं रही और वह पुरुष पर आश्रित हो गई। आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र एवं सम्पन्न होने के कारण पुरुष ने मातृसत्तात्मक परिवार को पितृसत्तात्मक परिवार में बदला और अपने उत्तराधिकारियो के बारे में निश्चिंत होने के लिए एक विवाह प्रथा का प्रचलन कर स्त्री के पैरों में नैतिक बंधनों की बेड़ियाँ डाल दीं।''[40]

दास–प्रथा का प्रचलन होने के कारण गृहकार्यों तथा सम्भोग–दोनों ही क्षेत्रों में पुरुष को स्त्रियों के स्थानापन्न सरलता से मिलने लगे। फलतः समाज में दोहरे नैतिक मूल्य अस्तित्व में आ गए। यही नहीं, स्त्री को लेकर पुरुष के मन में अधिकार की भावना पनपने के कारण पुरुष समाज में आपसी वैमनस्य, द्वेष और कलह के बीज अंकुरित होने लगे। परिणामतः अन्य पुरुषों की कुदृष्टि से बचाने के लिए स्त्री को घर की चारदीवारी में बंद कर दिया गया।

''इस प्रकार आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से नारी पहले ही हीन हो गई थी, घर में बंद रहने के कारण उससे मानसिक एवं बौद्धिक विकास के अवसर भी छीन लिए गए।''[41]

ज्यों–ज्यों पुरुष सभ्य होता चला गया, परिवार व समाज की प्रमुख शक्ति बनता गया, त्यों–त्यों नारी गौण होकर उस पर आश्रित होती गई और इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में वह न स्वतंत्र रही, न समान और न शेष रही उसकी अस्मिता। वह पुरुष की मुट्ठी में बंद एक वस्तु बनकर रह गई।

भारतीय नारी पुरुष के नियंत्रण को सह रही थी। पर्दा–प्रथा तथा अशिक्षा के अन्धकार में रह चुकी है, न पैतृक सम्पत्ति में अपना अधिकार जता सकी है और न अपने विषय में स्वतंत्र रूप से कोई निर्णय ले सकी है।

भारत की निम्नवर्गीय स्त्री भी आर्थिक रूप से स्वावलम्बी है – मध्यवर्गीय, उच्चवर्गीय महिला की भाँति बीसवी शताब्दी के मात्र कुछ दशकों से नहीं, बल्कि प्रारम्भ से ही। फिर क्यो पुरुष की दृष्टि मे उसका

सम्मान अक्षुण्ण नहीं रह सका? इन प्रश्नों का उत्तर यह है कि ह्रास की विविध अवस्थाएँ पार कर आज नारी जहाँ पहुँची है, वहाँ उसके विषय में परम्परागत मान्यताओं के आधार पर धारणाएँ बनाई जाती हैं। आर्थिक स्वतंत्रता या परतन्त्रता की बात गौण हो गई है। प्रमुख रही है, सामाजिक हीनता की बात जिसे दुर्भाग्यवश स्वयं नारी भी स्वीकार करती रही है।

भारतीय नारी की स्थिति में ह्रास के कारणों को रेखांकित करते हुए प्रायः मुस्लिम शासकों व संस्कृति के प्रभाव को भी लिया जा सकता है। निःसंदेह एक सीमा तक मुस्लिम संस्कृति के संपर्क ने भारतीय नारी की स्थिति को शोचनीय बनाया है।

''मुस्लिम आक्रमणकारियों ने आठवीं शताब्दी में आक्रमण करके भारत की धरती पर पहली बार कदम रखा''[42] और अंग्रेजी शासन की स्थापना से पूर्व उन्नीसवीं शताब्दी तक भारत पर राज्य करते रहे। इस कालावधि में भारतीय नारी ने बाल–विवाह, पर्दा–प्रथा, बेमेल विवाह, कन्या शिशुओं की हत्या, सतीप्रथा जैसी अमानुषिक यातनाओं को सहा, किन्तु इन कुरीतियों के अंकुशन के संकेत वैदिक काल के अंत (4000-1000 ई.पू.) से मिलने लगते हैं। ''वैदिक कालीन स्त्री जहाँ मनचाही शिक्षा पाने, इच्छानुसार वर चुनने, विधवा हो जाने पर पुनःविवाह करने, धार्मिक आयोजन स्वयं सम्पन्न करने को स्वतंत्र थी, वहीं उसे पिता की सम्पत्ति में भी पूरा भाग मिलता था और समाज में उसका पूरा सम्मान भी था।''[43] ''इसके विपरीत परवर्ती काल में उसकी स्थिति में परिवर्तन आया है – एकाएक नहीं, क्रमशः। धर्मसूत्र, मनुसंहिता, अर्थशास्त्र, रामायण, महाभारत, स्मृति ग्रंथ प्रमाणस्वरूप लिये जा सकते हैं जहाँ नारी पर उत्तरोत्तर अंकुश गहराते गए। निःसंदेह वैदिक काल में नारी आदर की अधिकारिणी थी, किन्तु परवर्ती काल में 'आदर' शब्दमात्र सुरक्षित रखा गया, उसका अर्थ पूर्णतया परिवर्तित होकर 'कृपा' का पर्याय बन गया – ऐसी कृपा जो उदारतावश अपने से हीन व्यक्ति पर की जाती है। लेकिन वही हीन बराबर पहुँच जाए तो उसका विकास आँख की किरकिरी बन जाता है।''[44]

इस प्रकार नारी की स्थिति में ह्रास के कारणों को संकेतित करते हुए कहा जा सकता है कि शारीरिक दृष्टि से दुर्बल होने तथा उस कारण धीरे–धीरे आर्थिक क्षेत्र से कटते चले जाने के कारण नारी के जीवन के समस्त सूत्र पिता, पति या पुत्र के रूप में पुरुष के हाथ मे आ गए। फलतः अपनी मानवीय पहचान खोकर

वह पुरुष की सम्पत्ति मात्र बन गई। इसके दो परिणाम हुए। प्रथम, पुरुषप्रधान समाज अस्तित्व में आया। दूसरे नारी की पुरुष सापेक्ष स्थिति स्वीकार कर ली गई। नारी के नाम से पूर्व श्रीमती अथवा कुमारी शब्द का प्रयोग इसका सूचक है।

बीसवी शताब्दी की नारी को सरसरी तौर पर देखने पर उसके अनेक उज्जवल रूप हमारे सामने आते हैं –शिशु के डगमगाते कदमों के साथ–साथ गृहस्थी की डगमगाती नौका को सम्हालने वाली नारी, अपने छोटे कदमों से पहाड़ की अलंघ्य ऊँचाईयाँ तथा समुद्र की अतल गहराईयाँ नाप लेने वाली नारी, परिवार, समाज व राष्ट्र को समान कुशलता से परिचालित करने वाली नारी, शिक्षा के क्षेत्र में अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय देती नारी। स्पष्ट है कि बीसवीं शताब्दी की नारी यदि वैदिक कालीन नारी की भाँति पुरुष के समान स्वतंत्र एवं सम्मानित नहीं है तो अट्ठारहवीं, उन्नीसवीं शताब्दी की नारी की भॉति बंधनों में जकड़ी हुई भी नहीं है। समीप से देखने पर निश्चय ही आधुनिक तथा तथाकथित स्वतंत्र नारी भी बन्धनों में जकड़ी दिखाई पड़ती है।

नारी को अपनी वास्तविक स्थिति का ज्ञान कराने के लिए उसमें जागरण लाया गया जिससे वह समाज में अपना एक स्थान बना सके, उसमें स्वाभिमान की भावना जागृत हो।

भारत में नवजागरण आन्दोलन 19वीं शताब्दी में राजा राममोहन राय द्वारा ब्रह्म समाज की स्थापना (1928 ई.) के साथ शुरु हुआ जिन्होंने अमानुषिक सतीप्रथा की विभिषिका से त्रस्त नारी के उत्थान हेतु संघर्ष किया।

अंग्रेजी – शिक्षा का नया माध्यम

''आर्थिक क्षेत्र में परिवर्तन के साथ–साथ शिक्षा के क्षेत्र में भी मूलभूत परिवर्तन हुए। अंग्रेजों के आगमन से पूर्व भारतीय शिक्षा पद्धति आध्यात्मिक एवं पारलौकिक दृष्टिकोण लेकर चलने के कारण अंग्रेजी पद्धति से पूर्णतया भिन्न थी। दूसरे भारतीय शिक्षा का मूल स्त्रोत धर्म था और उसकी आप्तता अपरिवर्तनीय थी। इसलिए ऐसी शिक्षा पद्धति अपने धर्म के प्रति कट्टरता की भावना ही पैदा कर सकती थी। इसके द्वारा स्वतंत्र व्यक्तित्व और विवेक सम्मत दृष्टिकोण का निर्माण सम्भव नहीं था।''[45] तीसरे भारतीय शिक्षा वर्ग या

जाति विशेष तक ही सीमित थी। अतः शिक्षित होकर सामान्यजन अपनी स्थिति पर विचार नहीं कर सकता था। इसके विपरीत पाश्चात्य शिक्षा सर्वसुलभ थी। नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों एवं सिद्धान्तों पर आधृत होने के कारण यह समकालीन जीवन से जुड़ी हुई थी और जीवन में आध्यात्मिकता की अपेक्षा भौतिकता को महत्वपूर्ण मानने के कारण व्यक्ति के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करती थी।

भारत में पाश्चात्य शिक्षा पद्धति लाने का श्रेय अट्ठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ईसाई–मिशनरियों को जाता है और उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटिश अधिकारियों को। उल्लेखनीय है कि दोनों ने साधन रूप में शिक्षा का प्रयोग किया। 1835 में लॉर्ड मैकाले ने शिक्षा–पद्धति के अन्तर्गत शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी स्वीकार कर राष्ट्रीय स्तर पर अंग्रेजी का पठन–पाठन अनिवार्य कर दिया।

निःसंदेह कोई भी राष्ट्र नारी का सहयोग लिए बिना आगे नहीं बढ़ सकता। भारतीय नारी से सहयोग की अपेक्षा नहीं की जा सकती थी क्योंकि शताब्दियों से हीन समझे और समझाए जाने के कारण वह पुरुष की अधीनता स्वीकार करना अपनी नियति मानने लगी थी। इसके ठीक विपरीत थी ब्रिटीश व अमरिकी नारी जिसने समस्त नारी सुलभ कमनीयता को त्याग अपने अधिकारों की प्राप्ति हेतु पुरुष–प्रधान समाज के विरुद्ध संघर्ष छेड़ दिया था। भारतीय एवं पाश्चात्य नारी की इन परस्पर विरोधी स्थितियों को देख कर यह कौतूहल उठना स्वाभाविक था कि अमरिका व ब्रिटेन में ऐसीं कौन–सी परिस्थितियाँ पैदा हुईं जिन्होंने नारी को अपने अस्तित्व के प्रति चेताया और सिर्फ चेताया ही नहीं बल्कि अफने अधिकारों के लिए संघर्ष करने को प्रेरित भी किया। इसके लिए आवश्यक था तत्कालीन परिस्थितियों एवं चिन्तन को बारीकी से समझा जाए।

औद्योगीकरण से पूर्व कृषि–प्रधान अर्थव्यवस्था में हस्तशिल्प, वस्त्र बुनना जैसे उत्पादक कार्य घर पर ही किए जाते थे और यही परिवार की आय के मुख्य स्त्रोत भी थे। घर एवं संतान के पोषण के दायित्व को संभालने के साथ नारी इन कामों में पुरुष का हाथ बँटाती थी और इस प्रकार अर्थोपार्जन में उसकी विशिष्ट भूमिका थी। किन्तु जब इन कार्यो का स्थानान्तरण फैक्टरियों में हो गया तो अर्थोपार्जन का कार्य एकमात्र पुरुष के कंधों पर आ गया और नारी का कार्यक्षेत्र घर तक ही सिमट कर रह गय्रा। इससे न केवल नारी पुरुष पर आश्रित हो गई बल्कि समाज में स्त्री–पुरुष की भूमिका को लेकर नए मूल्य बनने लगे कि

उत्पादक एवं अर्जक होने के नाते पुरुष में आगे बढ़ने, प्रतियोगिता करने, राजनीति में सक्रिय भाग लेने की क्षमता होनी चाहिए और एकमात्र गृहिणी होने के कारण नारी को घरेलू, विनम्र और नैतिक मूल्यों की संरक्षिका होना चाहिए। इसके साथ ही उच्चवर्ग तथा मध्यवर्ग की नारी को सम्भ्रान्त के विशेषण में बाँधकर उसके लिए दो विशेषताएँ अनिवार्य कर दी गई। एक यह कि पत्नी और माँ की भूमिका ही उसके जीवन का एकमात्र सत्य है और दूसरी यह कि अपने आचरण द्वारा उसे वर्ग–वैशिष्ट्य बनाए रखना है। पहली आवश्यकता ने जहाँ भावात्मक शोषण कर उसके व्यक्तित्व को अनुत्पादक एवं रोजमर्रा के दोहराने वाले उबाऊ कार्यो के साथ बाँध दिया और इस प्रकार प्रगति के समस्त अवसर छीन लिए, वहीं दूसरी आवश्यकता ने बडे ही कौशल से वर्गभेद की बात कर नारी और नारी के बीच ऊँच–नीच की दीवार खींच दी। इससे नारी को अपने हितों को लेकर संगठित होकर लड़ने की सम्भावना क्षीण हो गई।

इस समय उच्च वर्ग एवं मध्य वर्ग की स्त्रियों का नौकरी करना वर्जित था क्योंकि बाहर निकलकर नौकरी करने का अर्थ था पति परिवार के पोषण के लिए आवश्यक धन जुटा पाने में असमर्थ है। अतः खुलेआम यह उद्घोषणा कर कोई भी पत्नी अपने पारिवारिक स्तर को मध्यवर्गीय स्तर से नीचे नहीं गिराना चाहती थी।

स्त्रियों को अपनी स्थिति के प्रति जाग्रत करने में शिक्षा का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है और इसका श्रेय तत्कालीन समाज को जाता है जिसने स्वयं अनजाने ही स्त्रियों को आधुनिक शिक्षा–सुविधाएँ देने का समर्थन किया। तत्कालीन समाज चूँकि स्त्रियों की सार्थकता मां–रूप में मानता था, अतः वह चाहता था कि स्त्रियों को आधुनिक शिक्षा से सम्पन्न किया जाए ताकि वे बच्चों को अच्छे संस्कार और उज्जवल भविष्य देकर अन्ततः समाज का रूप संवार सके। इस मान्यता के कारण स्त्रियों को स्कूल व कॉलेजों में गृहविज्ञान के साथ–साथ व्याकरण, गणित, विज्ञान जैसे पुरुषोचित विषय भी पढ़ाए जाने लगे। वैज्ञानिक विषयों का अध्ययन स्त्रियों के लिए काफी उपयोगी और ज्ञानपरक सिद्ध हुआ। स्त्री और पुरुष की शारीरिक संरचना का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए एक ओर यदि शरीरविज्ञान ने पुरुष की तुलना में स्त्री की शारीरिक दुर्बलता की पुष्टि की, तो दूसरी ओर परम्परा से चली आ रही इस मान्यता का विरोध भी किया कि स्त्री मानसिक एवं बौद्धिक दृष्टि से पुरुष से हीन है। इससे नारी के मन में पुरुष के समान सक्षम होने का आत्मविश्वास उपजा। साथ ही कॉलेज से मिल रही आधुनिक वैज्ञानिक शिक्षा और समाज़ से मिल रहे

परम्परागत संस्कारों में कहीं भी तालमेल न बैठा पाने के कारण उसने अपनी माँ–दादी की पारम्परिक भूमिका को निभाने से इंकार कर दिया। फलतः अविवाहित स्त्रियों की संख्या बढ़ गई। इन अविवाहित स्त्रियों के जीवन–यापन के लिए नौकरी की आवश्यकता थी। पुरुषों के समान नौकरी के पर्याप्त अवसर उपलब्ध न होने के कारण इन्हें कम वेतन पर काम करना पड़ता। इससे अपनी हीन स्थिति के साथ–साथ सामाजिक अन्याय का बोध भी उनमें गहराने लगा। यह अनुभव किया जाने लगा कि सामाजिक समानता प्राप्त किए बिना नारी स्वतंत्र नहीं हो सकती और सामाजिक समानता तभी मिल सकती है जब वैधानिक दृष्टि से उसे पुरुष के समान समझा जाए। इसलिए संघर्ष करके कानून के माध्यम से पहले परिवार की सम्पत्ति में अपना हिस्सा पाया (1848) और बाद में वयस्क मताधिकार (1920)।

नवजागरण आन्दोलन : समाज सुधारकों की भूमिका

राष्ट्र–निर्माण के कार्य में स्त्रियों का सहयोग अनिवार्य समझा गया। अतः समाज–सुधारकों ने स्त्रियों की स्थिति में सुधार लाने के लिए अनेक कार्य किए। जैसे–

(1) सामाजिक कुरीतियों को समाप्त करने के उपरान्त अनेक कानूनी अधिकार दिलाकर समाज में नारी के अस्तित्व को स्वीकार करना।

(2) शिक्षा का प्रचार–प्रसार कर नारी में आत्मविश्वास भरना।

(3) नारी–आन्दोलन शुरु कर नारी को अपने साथ आगे बढ़ने की प्रेरणा और अवसर देना।

(1) सामाजिक कुरीतियों की समाप्तिः

परतन्त्र भारतीय समाज में नारी के जीवन को अभिशप्त करने वाली अनेक कुप्रथाएँ विद्यमान थीं। इस दिशा में सबसे पहले राजा राममोहन राय ने 1829 में सती–प्रथा निषेध कानून पारित करवा कर सुधार कार्यों का श्रीगणेश किया। मृत पति के साथ उसकी विधवा पत्नी को जिन्दा जला दिए जाने वाली सती प्रथा इस अर्थ में अमानुषिक थी कि यह न केवल एक व्यक्ति से जीवित रहने का अधिकार छीनती थी बल्कि उसे अत्यन्त कष्टकर ढंग से मरने को बाध्य भी करती थी। आश्चर्य यह था कि समाज इस प्रथा का अनुमोदन करता था और न केवल अनुमोदन बल्कि जिन्दा जल जाने वाले सती को महिमामंडित करता हुआ प्रकारान्तर से उसका पोषण भी करता था। राजा राममोहन राय ने सती–प्रथा के औचित्य पर प्रश्नचिन्ह लगाते हुए कहा कि सती–प्रथा धार्मिक रुढि नही बल्कि सामाजिक षड्यंत्र का परिणाम है, क्योंकि परम्परा

से ही दायभाग द्वारा विधवा का संयुक्त परिवार की सम्पत्ति में अधिकार स्वीकार किया गया था। ''यह अधिकार भले ही नाममात्र का था, किन्तु उसके सगे–सम्बंधियों के मार्ग में काँटा था। अतः विधवा रूपी कंटक को सदा–सर्वदा के लिए दूर करने के षडयंत्र के तौर पर सतीप्रथा शुरु की गई।''[46] कट्टर हिन्दुओं द्वारा विरोध किए जाने के बावजूद राजा राममोहन राय ने सती प्रथा को कानूनी रूप से अवैध घोषित कराया और ब्रह्म समाज की स्थापना कर अपने सुधार–कार्यो को संस्थात्मक स्तर पर शुरु किया।

सती–प्रथा के समान अमानुषिक थी बाल–विवाह प्रथा। यह प्रथा छोटी आयु में ही पत्नी व माँ बन जाने के कारण नारी के स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव डालती थी। दूसरे, समाज में विधवा एवं बेमेल विवाह जैसी कुप्रथाओं का मार्ग भी प्रशस्त करती थी। जन्म से पहले गर्भावस्था में ही विवाह तय हो जाने के कारण तथा होश संभालने से पूर्व विवाह संपन्न हो जाने के कारण नारी शिक्षा से वंचित रह जाती थी। इस प्रकार नारी के शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक विकास में बाधक बाल–विवाह प्रथा को दूर करने के लिए समाज सुधारकों जैसे – ईश्वरचंद्र विद्यासागर, रानाडे ने काफी प्रयास किए। बाद में 1955 में बढ़ाकर लड़कियों के लिए 14 वर्ष तथा लड़कों के लिए 18 वर्ष कर दिया गया।

शिक्षा का प्रसारः

स्त्रियों तक सामाजिक कानूनों के लाभ पहुँचाने के लिए आवश्यक था कि पहले स्त्रियों को शिक्षित किया जाए। शिक्षा का अर्थ संकुचित अर्थ में गणित, भूगोल, व्याकरण या विज्ञान जैसे विषय पढ़ाकर उसका ज्ञानफलक विस्तृत करना नहीं था बल्कि इनके साथ–साथ और कहा जाए तो, इनसे पहले उसे यह बताना था कि वह हीन, भोग्या या पदार्थ नहीं है। वह है माँ, पत्नी और मनुष्य जिसका परिवार और समाज में श्रद्धा व गरिमा से युक्त एक निश्चित स्थान है। साथ ही शिक्षा का उद्देश्य यह बताना भी था कि उसके जीवन में विविध सामाजिक कुरीतियाँ पुरुष समाज द्वारा उसकी अभ्यर्थना रूप में नहीं आई हैं, प्रताड़ना रूप में आई हैं। उल्लेखनीय है कि समाज–सुधारकों ने स्त्री के पत्नी एवं माँ रूप को ही देखा, जबकि ठीक इसी समय अमरिका व ब्रिटेन में नारी–आन्दोलन इस मान्यता के विरोध में चला ही इसलिए था कि स्त्री – पत्नी और माँ है, लेकिन उससे पहले स्त्री है, ठीक उसी प्रकार जैसे पति और पिता होते हुए भी पुरुष पहले पुरुष है।

भारतीय समाज–सुधारक पहले पुनरुत्थानवादी हैं। उनका क्रान्तिकारी रुप शनैः शनैः उभरकर सामने आया है। पहले जड़ रुढ़ियों से मुक्त कर उन्होंने नारी के लिए शिक्षा सुविधाएँ उपलब्ध कराई, फिर नौकरी के अवसर जुटाकर उसे स्वावलम्बी बनाया और राष्ट्र निर्माण में उसके योगदान को आवश्यक मान उसे पुरुष के समान एक स्वतंत्र व महत्वपूर्ण इकाई बताया। वस्तुतः वे जानते थे कि क्रमिक विकास की गति मंथर भले ही हो, प्रभावी अवश्य होती है, ठीक उसी प्रकार जैसे एक–एक सीढ़ी लाँघ कर ऊपर पहुँचने में जो सुरक्षा और निश्चितता है, वह एक ही छलाँग में ऊपर जाने में नहीं।

स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहन देने के संदर्भ में सर्वप्रथम ईश्वरचंद्र विद्यासागर का नामोल्लेख किया जा सकता है जिन्होंने वायसराय की कार्यकारिणी के सदस्य श्री बैथ्यून की सहायता से कलकत्ता में 1849 में एक कन्या विद्यालय की स्थापना की, जो बाद में बैथ्यून कॉलिज के नाम से विख्यात हुआ। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का महत्व इसलिए भी बढ़ जाता है कि शिक्षा निरीक्षक की हैसियत से वे जिस भी गाँव में जाते, वहीं एक कन्या पाठशाला की स्थापना कर आते। इन कन्या पाठशालाओं में फीस नहीं ली जाती थी। कलकत्ता में कन्याओं को विद्यालय तक लाने–पहुँचाने के लिए एक वाहन की व्यवस्था की गई थी जिस पर लिखा था, ''स्त्रियों की रक्षा और शिक्षा का प्रयास होना चाहिए।'' नीरा देसाई इस संदर्भ में लिखती हैं– ''जिस समय समाज में स्त्री–शिक्षा अनावश्यक प्रतीत होती थी, उस समय कलकत्ता जैसे नगर में बालिकाओं को बैठाकर परिभ्रमण करने वाला वाहन मानो शिक्षा का सजीव प्रचार कर रहा हो, ऐसा मालूम पड़ता था।''[47]

स्त्री–शिक्षा के प्रभाव दूरगामी सिद्ध हुए। इससे एक तो स्त्रियों में कुरीतियों के चंगुल से निकल अपने अधिकारों को पाने की प्रवृत्ति बढ़ी। दूसरे, पश्चिम में उदारवाद, लोकतंत्र और नारी–आन्दोलन का अध्ययन करने के कारण उनमें संघर्ष करने की इच्छा अंकुरित हुई। तीसरे, आर्थिक स्वावलम्बन के कारण परिवार व समाज में पुरुष के समान होने का आत्म–विश्वास उनमें आया।

स्त्रियों की निम्न सामाजिक परिस्थिति के लिए उत्तरदायी कारणः

भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति विभिन्न कालों में और विभिन्न समाजों में भिन्न–भिन्न प्रकार की रही है। वैदिक समय में उसे शक्ति, ज्ञान एवं सम्पत्ति के रूप में क्रमशः दुर्गा, सरस्वती एवं लक्ष्मी के रूप

में माना गया। बाद में पुराणयुग तथा मध्यकाल में स्त्रियों की स्थिति में अवनति पाई जाती है। वे अब नितान्त परतंत्र एवं निःसहायह समझी जाती थीं। ईसा के एक हजार वर्ष बाद अभिजातीय परिवार में विधवाओं के पुनर्विवाह सदंतर बंद हो गये। कुछ निम्न जातियों ने भी उच्च जातियों का अन्धानुकरण किया और ऐसे विवाहों पर प्रतिबंध लगाया। इस काल में पतिव्रत का एकतरफा आदर्श प्रस्तुत किया गया। इस प्रकार ''धर्मशास्त्र काल में शास्त्रकारों ने स्त्रियों की सामाजिक, धार्मिक स्थिति को कमजोर करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। मनु ने कहा कि स्त्रियों को कभी भी स्वतंत्र नहीं रखना चाहिए, उन्हें बाल्यावस्था में पिता, युवावस्था में पति और वृद्धावस्था में पुत्र के संरक्षण में रहना चाहिए।''[48] इस प्रकार भारत वर्ष में वैदिक काल से से पुनर्जागरण काल तक स्त्रियों की सामाजिक, आर्थिक स्थिति में निरन्तर गिरावट पायी जाती है, जिसके कारण निम्नलिखित हैः

(1) नारी शिक्षा की उपेक्षा :

वैदिक काल में नारी शिक्षा का प्रचलन था। तथापि यह प्रचलन संभवतया उच्चवर्गीय या अभिजातवर्गीय महिलाओं तक सीमित हो गया। परन्तु बाद में स्त्रियों का कार्यक्षेत्र क्रमशः संकुचित होते–होते केवल गृहकार्य एवं सन्तानोत्पत्ति तक सीमित रह गया। फलतः उसकी शिक्षा को उपेक्षणीय समझा गया।

प्रेमचन्द के 'सेवासदन' तथा 'निर्मला' की नायिकाओं क्रमशः सुमन एवं निर्मला की अवदशा के पीछे उनकी सीमित शिक्षा ही उत्तरदायी है। यदि वे पूर्णतया शिक्षित होतीं तो दहेज न जुटा पाने की स्थिति में भी 'पचपन खंभे लाल दीवारें' (उषा प्रियंवदा) की सुषमा तथा 'मुझे चाँद चाहिए' (सुरेन्द्र शर्मा) की वर्षा वशिष्ठ की भाँति सम्मानित जीवन बिता सकती थीं।

(2) कन्यादान का आदर्शः

''हिन्दू विवाह पद्धति में कन्यादान के महत्व ने भी क्रमशः नारियों की स्थिति को दयनीय बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। दान – चीजवस्तुओं का, रूपयों का, गायों का दिया जाता है। अतः 'कन्यादान' की विभावना ने स्त्री को भी व्यक्ति के स्थान पर चीजवस्तु की कोटि में रख दिया। कन्याओं के लिए गुजराती में एक कहावत है – 'दिकरी ने गाय दोरे त्यां जाय' – अर्थात् पुत्री और गाय जहाँ उन्हें ले जाया जाता है, चली जाती हैं। दूसरी इस विभावना के कारण एक और मनोवृत्ति ने जन्म लिया कि कन्यादान के पश्चात् माँ–बाप के कर्तव्य की इतिश्री हो जाती है।''[49]

(3) बाल विवाहः

वैदिक काल में वयस्क होने पर लड़के–लड़कियों के विवाह होते थे, परंतु स्मृतिकाल में बालविवाह के पक्ष में थे। परिणाम यह हुआ कि लड़कियों के विवाह–संस्कार ही उनके उपनयन संस्कार हो गये। बाल–विवाह की स्थिति में लड़की का उचित मानसिक विकास भी संभव नहीं है। बहुत छोटी अवस्था में उसे ब्याह दी जाती है, और यही शिक्षा दी जाती है कि वह अपने पति की दासी है और उसकी सेवा करना ही उसका धर्म है। बाल–विवाह का असर उसके स्वास्थ्य पर भी पड़ता था और बहुत सी स्त्रियाँ असमय ही मृत्यु का शिकार हो जाती थीं। उनका स्थान नयी कमसिन लड़कियाँ लेती थीं। इस प्रकार यह दोहरा शोषण चलता था। बालिकाओं के विवाह प्रौढ़ और वृद्धों से भी होते थे और फलतः उन्हें असमय वैधव्य का शिकार होना पड़ता था।

(4) पुरुषों पर आर्थिक निर्भरताः

कई बार हमारे प्राचीन शब्द ही हमारी प्राचीन सभ्यता और इतिहास का दिग्दर्शन कराते हैं। ''हमारे यहाँ पत्नी के लिए 'भार्या' तथा पति के लिए 'भर्ता' शब्द का प्रयोग प्रचलित था।''[50] इन शब्दों से यह प्रमाणित होता है कि स्त्रियाँ पूर्णतया पुरुषों पर निर्भर रहती थीं। आर्थिक उत्पादन के क्षेत्र में उनकी कोई हिस्सेदारी नहीं थी। यद्यपि प्रातःकाल से लेकर रात को सोते समय तक वे घर के अनेक छोटे–मोटे श्रमसाध्य कामों में खटती थीं, तथापि इन कार्यो को गृह–संचालन के कार्य मानते हुए तथा उनसे आर्थिक उत्पादन न होने के सबब उनकी उपेक्षा होती थी। कमाने वालों की कोटि में पुरुषों की ही गणना होती थी।

(5) संयुक्त परिवार व्यवस्थाः

प्राचीन काल में संयुक्त परिवार प्रणाली ने भी स्त्रियों की स्थिति को गिराने में बहुत बड़ा योग दिया है। परिवार में कर्ता या पितृसत्तात्मक के पास ही सारे अधिकार केन्द्रित होते थे। ''डॉ. के.एम. पनिक्कर ने तो स्त्रियों की निम्न स्थिति के लिए संयुक्त परिवार प्रथा को ही उत्तरदायी माना है। ऐसे परिवार में कर्ता या पितृसत्ताक के पास ही सारे अधिकार केन्द्रित होते थे।''[51] इसमें स्त्रियों को कोई स्वतंत्रता नहीं होती थी। उन्हें तो परिवार के पुरुषों की कृपा पर ही निर्भर रहना पड़ता था। हाँ, स्त्री के वयोवृद्ध होने पर उसे कुछ सम्मान जरुर मिलता था, परंतु वह भी थोड़ा। आज भी बहुत–से माँ–बाप अपनी बेटियों के लिए छोटे परिवार या विभक्त परिवार पसंद करते हैं, यह अकारण नहीं है।

(6) वैवाहिक कुरीतियाँ:

प्रायः प्राचीन काल से ही सभी समाजों में शास्त्रों के रचयिता पुरुष ही रहे, अतः उन्होंने स्वयं को केन्द्र में रखते हुए अपनी सुविधानुसार विवाह आदि के नियम बनाये, जिसके कारण अनेकानेक वैवाहिक कुरीतियों का उद्भव हुआ। इन वैवाहिक कुरीतियों में कुलीन–विवाह, आंतरजातीय विवाह तथा विधवा विवाह पर प्रतिबंध, दहेज प्रथा, पारस्परिक विवाह आदि हैं। ''डॉ. मजूमदार के अनुसार–हिन्दू स्त्रियों की निम्न स्थिति के लिए मुख्यतया कुलीन विवाह प्रथा ही उत्तरदायी है।''[52] दहेज प्रथा तो हिन्दू समाज के लिए कलंक है। उसके कारण अनेक अरमानभरी लड़कियों के सपनों की आहुति दी जाती है। दहेज के कारण ही बहुत–सी बुराइयाँ पनपती हैं। अनमेल विवाह, वृद्ध–विवाह, कुलीन–विवाह, घट–विवाह जैसी नारी जीवन को अपमानित करने वाली प्रथाओं के मूल में दहेज प्रथा ही होती है। सरकार ने तो कानून बना दिया है। दहेज देना और लेना दोनों अपराध हैं, परंतु जब तक इस पर सामाजिक सहमति स्थापित नहीं होती, तब तक ऐसे कानूनों का कोई अर्थ नहीं है, ''दहेज के कारण हमारे समाज में दहेज–हत्याएँ बढ़ती हैं। दहेज की कमी के कारण या वरपक्ष वालों के लालची स्वभाव के कारण विवाह के उपरान्त अनेक स्त्रियों के साथ अमानुषी अत्याचार होते हैं। स्त्रियों को जिन्दा जला दिया जाता है।''[53]

(7) मुसलमानी आक्रमण:

भारत में मुसलमानों के आक्रमण के कारण भी स्त्रियों की स्थिति में काफी गिरावट आयी। आक्रमणकारी बाहर से आये थे। अतः उनमें स्त्रियों की कमी थी। फलतः वे हिन्दू स्त्रियों, यहाँ तक कि विधवाओं से भी विवाह कर लेते थे। जो प्रभुसत्ता–सम्पन्न थे वे तो अपनी सत्ता और शक्ति से स्त्रियों को उठवा लेते थे। इन कारणों से हिन्दू–धर्म की रक्षा हेतु ब्राह्मणों ने स्त्रियों के लिए निर्मित सामाजिक नियमों को अधिक कठोर बना दिया। बाल–विवाहों को प्रोत्साहन मिला। विधवाओं के विवाह पर प्रतिबंध लगा दिया। मुसलमानों में विधवाओं के विवाह होते थे, यह उसकी प्रतिक्रिया था। मुसलमानों से अपनी स्त्रियों की रक्षा हेतु पर्दा–प्रथा को लागू किया गया। सतीप्रथा रिवाज में बढ़ोतरी हुई। लड़कियों के बाहर निकलने पर प्रतिबंध लग जाने से उसका प्रभाव उनकी शिक्षा पर भी पड़ा।

(8) धार्मिक वेश्यावृत्ति:

शैलेष मटियानी के उपन्यास ''एक मूठ सरसों' मे एक दिगम्बर बाबा का उल्लेख हुआ है जो नयी

दीक्षित सधुआइनों के साथ रासलीला रचाते हैं।''[54]

'धार्मिक वेश्यावृत्ति' शब्द ही किसी को विचित्र और चौंकाने वाला लग सकता है, परन्तु यहाँ उससे अभिप्राय धर्म के नाम पर चलने वाली वेश्यावृत्ति से है। दक्षिण के कई मंदिरों में 'देवदासी प्रथा' चलती है। प्रायः निम्न एवं दलित जाति की सुन्दर कन्याओं को देवदासी बनाया जाता है जिनका कार्य मंदिर तथा मंदिर से जुड़े हुए लोगों की सेवा करना होता था। इसके अन्तर्गत शारीरिक समर्पण भी आ जाता है। हमारे देश में धर्म के नाम पर अनेक धार्मिक, सामाजिक संस्थाओं में स्त्रियों का लैंगिक शोषण होता है, जिसका ताजा उदाहरण गुजरात के छोटाउदेपुर कस्बे के 'रंग–निकेतन' आश्रम का है। कुछ वर्ष पूर्व गुजरात में ही द्वारका के केशवानंद का किस्सा प्रकाश में आया था, जिनमें वे धर्म की ओट में स्त्रियों के चरित्र से खेलते थे।

(9) निम्न एवं दलित जाति की स्त्रियों का शोषणः

नारी की भाँति वैदिक काल के पश्चात् शूद्र जाति के लोगों पर अनेक प्रकार की निर्योग्यताएँ स्थापित की गयीं, जिनके कारण हिन्दू समाज में उनका स्थान काफी नीचे चला गया। वे हर प्रकार से उच्च समाज पर निर्भर रहने लगे। उनको ऐसे व्यवसाय करने के लिए विवश किया गया जो मानवीय अस्मिता की दृष्टि से जघन्य और अपवित्र समझे जाते रहे हैं। यहाँ तक कि उनको अस्पृश्य करार दिया गया। परन्तु दूसरी तरफ उनकी स्त्रियों के साथ यौन–संबंध रखने में इन ऊँची जाति के लोगों को किसी प्रकार की हिचकिचाहट नहीं होती है।

अनपढ़ होते हुए भी 'गोदान' में सिलिया की माँ जो आक्रोश व्यक्त करती है वह गौरतलब है। प. दातादीन का लड़का मातादीन सिलिया चमारिन के साथ फँसा हुआ है। एक प्रसंग में सिलिया की माँ मातादीन को लताड़ते हुए कहती है – ''उसके साथ सोओगे, लेकिन उसके हाथ का पानी न पिओगे। तुम हमें ब्राह्मण नहीं बना सकते, मुदा हम तुम्हें चमार बना सकते हैं। हमें ब्राह्मण बना दो। हमारी सारी बिरादरी बनने को तैयार है, जब यह समरथ नहीं है तो फिर तुम भी चमार बनो। हमारे साथ खाओ–पिओ, हमारे साथ उठो बैठो। हमारी इज्जत लेते हो तो अपना धर्म हमें दो।''[55]

उपर्युक्त कारणों से भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति निरन्तर गिरती गयी है। आधुनिक युग में कुछेक सामाजिक–धार्मिक आन्दोलनों के कारण तथा बढती हुई नारी–शिक्षा के कारण शहराती स्त्रियों की

स्थिति में कुछ परिवर्तन आया है। परन्तु भौतिकता के व्यामोह में नारियों के नैतिक शोषण का एक नया आयाम प्रस्फुटित हो रहा है, जिसमें नौकरी, नौकरी में ऊँचा पद, प्रतिष्ठा आदि के कारण नारी स्वयं यौन दृष्ट्या शोषित होने के लिए प्रस्तुत हो रही है।

मध्यवर्गीय नारी का मनोविज्ञानः

नारी सम्बन्धी प्रगतिशील विचारधारा अधिकांश उपन्यासों में देखी जा सकती है। बहुत–से लेखक नारी को एक स्वतंत्र सामाजिक इकाई के रूप में देखते हैं। कई बार यह देखने को मिला है कि पुरुष के व्यक्तित्व के सामने नारी को झुकना ही पड़ता है किन्तु अब नारी भी अपना पृथक् अस्तित्व बनाये हुए है और अपने अधिकारों के प्रति वह पूर्ण सचेत है। यों पुरुष सत्ताप्रधान समाज में नारी को सदैव से गौण स्थान दिया जाता रहा है। जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्रों में पुरुष के समान अधिकारों की माँग करने वाली व्यावहारिक स्तर पर आज भी शोषित ही है। इसका कारण शायद नारी की शारीरिक मानसिक दुर्बलता ही हो सकता है।

प्राचीन काल से यों नारी पुरुष की अर्धांगिनी मानी जाती रही है। युद्ध क्षेत्र में धार्मिक सामाजिक कार्यो में कोई भी कार्य नारी के बिना अपूर्ण होता था। मध्यकाल में नारी शिक्षा से वंचित हो गई। उसकी प्रगति के मार्ग अवरुद्ध हो गये , 'स्त्रीशूद्रोनाधीयताम्' का विधान समाज में चल पड़ा। किन्तु स्वातंत्र्योतर काल से पूर्व ही मुगल सीम्राज्य की प्रतिस्थापना के बाद नारी पुरुष के हाथों का खिलौना मात्र ही बनी रही। वह भोग–विलास और मनोरंजन का केन्द्र बन गई। बाल–विवाह और पर्दा–प्रथा ने नारी के व्यक्तित्व को कुण्ठित कर दिया। आधुनिक काल तक पहुँचते–पहुँचते स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद फिर से नारी विकास का क्षेत्र विस्तारित हुआ। पुरुष के समान अनेक अधिकार उसे मिले। उच्च पदों की प्राप्ति के लिए वह घर की चारदीवारी के अनेक कार्यो से निकल कर पद आसीन होने की चेष्टा करने लगी। समाज के अनेक क्षेत्रों में वह प्रगतिशील होती रही। शिक्षा के प्रभाव से नारी स्वतंत्र होने लगी है। अपनी इच्छा से पति का चुनाव करने की जिद करने लगी है। वह जागरुक हो गई है। 'उखड़े हुए लोग' की जया शिक्षा द्वारा नारी का विकास हुआ है, मानती है। ''लाख बुरी और अनुपयुक्त होते आज की शिक्षा स्त्री में राजनीति, इतिहास, विज्ञान और कला के प्रति समझ और आकर्षण उत्पन्न करती है।''[56] किन्तु कई पुरुष यह सोचते हैं कि 'स्त्री घर की रानी है' दोनों ही (स्त्री–पुरुष) यदि कार्यक्षेत्र में जुट जायेंगे तो घर कौन देखेगा?

आज उच्च मध्यवर्गीय नारी को जितनी स्वतंत्रता है, उतनी प्राचीन काल में नहीं थी। शिक्षा के प्रभाव से मध्यवर्गीय नारी अपनी मर्यादाओं को लेकर चलती है। पर कई बार शिक्षा के प्रभाव के कारण ही वह स्वातंत्र्य का अर्थ स्वैराचार समझती है। परिणामतः उसके पथभ्रष्ट होने की पूरी संभावना रहती है। यह पथभ्रष्टता कई बार चारित्रिक होती है तो कई बार पारस्परिक आदर्शो को मान्यता न देने से।

मध्यकालीन नारी के विभाग को कुण्ठ करने के लिए ही पुरुष ने अपनी अधिकार लिप्सा का प्रदर्शन किया। पति की मृत्यु पर नारी को सती हो जाना पड़ा, स्त्री भी एक राजा की सम्पत्ति मानी जाती थी किन्तु आज नारी प्रगतिशील है। आज की स्त्रियाँ पढ़–लिखकर नौकरी करके स्वावलम्बी बनना चाहती है। आज की नारी अत्यन्त विपरीत स्थितियों में संघर्ष करते हुए भी जीना चाहती है। उनके मन में भीतर कहीं एक गहरी आकांक्षा है जो उन्हें वह प्राप्त करने की अभिलाषा जगाती है जिसे बड़ी कठिनाई से प्राप्त किया जाता है। प्राचीनकाल में नारी अपनी मनोभावनाओं को प्रदर्शित करने में हिचकिचाती थी। किन्तु आज की उच्च मध्यवर्गीय नारी अपनी भावनाओं को प्रकट करने में उन्मुक्त है।

प्रेमचदन्दपूर्वकाल में पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी के अतिरिक्त लाला श्रीनिवासदास, पंडित बालकृष्ण भट्ट, अयोध्यासिंह उपाध्याय, मेहता लज्जाराम शर्मा, किशोरीलाल गोस्वामी, गोपालराम गहमरी, देवकीनंदन खत्री, प्रश्रृति लेखकों के क्रमशः 'परीक्षागुरु', 'सो अजान एक सुजान', 'अधखिला फूल', 'स्वतंत्र रमा परतंत्र लक्ष्मी', 'निःसहाय हिन्दू', 'कल्याणी' आदि उपन्यास मिलते हैं। इनमें फुल्लौरी, लाला श्रीनिवासदास, बालकृष्ण भट्ट आदि तो नवसुधारवादी लेखक थे। अतः उनकी नारी विषयक अवधारणा उदार एवं रुढिग्रस्तता से मुक्त थी। परंतु मेहता लज्जाराम शर्मा, किशोरीलाल गोस्वामी, राधाकृष्णदास प्रभृति लेखक पुरानी सनातनपंथी विचारधारा के थे। अतः उन्होंने नारी का चित्रण अपने सनातनी एवं सामंतवादी मानस के अनुरुप किया है। वे नारी शिक्षा के घोर विरोधी रहे हैं। मेहता लज्जाराम शर्मा कृत ''स्वतंत्र रमा परतंत्र लक्ष्मी' का उद्देश्य 'भाग्यवती' से नितान्त विपरीत ध्रुव पर है। इसमें रमा शिक्षित और स्वतंत्र विचारों वाली है और लक्ष्मी अशिक्षित और दूसरों पर निर्भर रहने वाली है। लेखक ने रमा की तुलना में लक्ष्मी के दाम्पत्य जीवन को अधिक सुखी बताया है और परोक्ष ढंग से यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि स्त्रियों को पढ़ाने से सामाजिक–पारिवारिक जीवन में समस्याएँ पैदा होती हैं।'"[57]

स्त्रियों के प्रति उनकी दृष्टि भी रीतिकालीन भोगवादी रही है। गहमरी जी ने 'जासूसी' उपन्यास लिखे हैं, जिनमें स्त्रियों की भूमिका कठपुतलियों सी रही है। खत्री जी का तो परिवेश ही सामंतकालीन है। वहाँ कुछ तेजस्वी नारी चरित्र उभरे हैं, परंतु उनका भी परिचालन तो राजाओं और मंत्रियो द्वारा ही होता रहा है।

प्रेमचन्द्रपूर्वकाल के उल्लिखित उपन्यासों से यह निष्कर्ष निकलता है कि उन उपन्यासों में चित्रित नारियाँ प्रायः दो वर्णो में विभक्त हो सकती हैं। नवसुधारवादी लेखकों में सुशिक्षित नारी–पात्र मिलते हैं। उन लेखकों ने नारी–शिक्षा, विधवा–विवाह, अनमेल विवाह, दहेज प्रथा जैसे नारी–चिन्ता से जुड़े प्रश्नों को भी उठाया है। परन्तु सामन्तपंथी लेखकों ने नारी–शिक्षा का विरोध करते हुए शिक्षित नारियों के दाम्पत्य–जीवन को असफल करार दिया है। इन लेखकों ने नारी–शिक्षा का विरोध करते हुए शिक्षित नारियों के दाम्पत्य–जीवन को असफल करार दिया है। इन लेखकों ने नारी के प्राचीन आदर्श को ध्यान में रखते हुए सेवा, पतिभक्ति जैसे भावों को सर्वोपरि स्थान दिया है। चरित्र–चित्रण की दृष्टि से इन नारी–पात्रों में जीवन्तता का अभाव परिलक्षित होता है। नारी का प्रायः भोगवादी चित्रण हुआ है। यहाँ पर या तो कुलीन सम्भ्रान्त परिवारों की महिलाएँ हैं या फिर अपने रूप और शरीर का सौदा करने वाली रूप जीवनियाँ है। प्रायः लेखकों ने नारी–जीवन पर पड़ने वाले पाश्चात्य प्रभावों को हेय बताया है। खत्रीजी के उपन्यासों में नारी का सामन्तकालीन रूप ही सामने आया है, तो गहमरी जी ने नारी का भोगवादी दृष्टिकोण से चित्रण किया है।

प्रेमचन्द तथा प्रेमचन्दयुग के उपन्यासों में नारी जीवन का चित्रण:[1]

''प्रेमचन्दजी ने कई उपन्यास लिखे – सेवासदन, रंगभूमि, कायाकल्प, निर्मला, गबन, कर्मभूमि, गोदान आदि। इसमें प्रेमचन्दजीने सुखदा, निर्मला, जालपा, सोफिया, सकीना, धनिया जैसे कुछ सशक्त नारी पात्र दिये हैं। प्रेमचन्द के नारी–पात्रों में संघर्ष है, जिजीविषा है, रुढ़ियों और अंधविश्वासों से टकराने का साहस है। वस्तुतः प्रेमचन्दजी चाहते थे कि हमारे देश का नारी–वर्ग हजारों वर्ष की शास्त्रानुमोदित गुलामी के बाहर आये।

' 'गबन' की जालपा को प्रारम्भ में आभूषणप्रिय बताया है परन्तु इसी आभूषण–प्रेम के कारण जब रमानाथ (उसका पति) भाग जाता है तब मानो उसका कायाकल्प ही हो जाता है। 'गोदान' का होरी तो

परम्परा और मर्यादा के नाम पर मिटता है, परंतु परम्पराओं और प्रगति विरोधी रुढ़ियों के खिलाफ विद्रोह करने की शक्ति धनिया में है। होरी की मृत्यु के समय गाँववाले लोग धनिया को होरी का गोदान कराने के लिए कहते हैं, तब वह घर से बीस आने पैसे लाकर कहती है, यही उनका गोदान है।''[58]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्द के नारी पात्र बदलते जमाने के तेवरों का तीखापन लिए हुए हैं। 'गोदान' की धनिया तो प्रेमचन्द के नारी पात्रों में अप्रतिम–सी लगती है।

प्रेमचन्द युग के अन्य उपन्यासकारों में विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, पांडेय बेचन शर्मा उग्र, भगवती प्रसाद वाजपेयी, जयशंकर प्रसाद, सियारामशरण गुप्त, वृन्दावनलाल वर्मा, जैनेन्द्र आदि की परिगणना कर सकते हैं। कौशिक जी अपने 'माँ' और 'भिखारिणी' जैसे उपन्यासों में नारी का आदर्शवादी दृष्टिकोण से चित्रण करते हैं, निम्न कोटि के नारी पात्रों में उच्च मानवीय गुणों का दिग्दर्शन यह कौशिक जी की अपनी विशेषता है। 'उग्र' जी के इस समय के उपन्यासों में 'घंटा', 'दिल्ली का दलाल', 'बंधुआ की बेटी' आदि उपन्यास मुख्य हैं। 'घंटा' में लेखक ने उच्चवर्गीय लोगों की पोल खोली है, अतः वहाँ उच्च वर्गीय लोगों में स्त्री–पुरुष के अवैध सम्बन्धों को चित्रित किया गया है। 'दिल्ली का दलाल' उपन्यास में वेश्या–जीवन की नारकीयता को उद्घाटित किया गया है। नारी चित्रण की दृष्टि से उनका 'बंधुआ की बेटी' एक सशक्त उपन्यास है। रधिया भंगिन अत्यंत सुंदर युवती है, गाँव के जमींदार का बेटा घनश्याम उसे प्रवंचित कर उससे शारीरिक संबंध स्थापित करता है और बाद में अपनी बात से मुकर जाता है। अतः रधिया उसका प्रतिशोध समूचे पुरुष वर्ग से लेती है। वह लोगों को अपने प्रेम पाश में फाँसकर उन्हें पागल और बरबाद कर देती है।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि प्रेमचन्द काल में नारी कुछ कदम आगे बढ़ी है। अब वह केवल 'श्रद्धा' नहीं रही है। रीतिकाल की भाँति केवल 'भोग्या' नहीं रही है, केवल पत्नी भी नहीं रही है। वह जीवन–संघर्ष में पुरुष के साथ कन्धे से कन्धा मिलाने लगी है। पढ़–लिख कर आत्मनिर्भर होने के साथ–साथ वह सामाजिक–राजनीतिक गतिविधियों में हिस्सेदारी करने लगी है। हालाँकि अभी भी स्त्री–पुरुष की गैरबराबरी बरकरार है, किन्तु पुरुष के अधिकार–क्षेत्र के वितान में एक छेद अवश्य पड़ गया है।

स्वतंत्रतापूर्व के उपन्यासों में नारियों को लेकर जहाँ अत्याचार और शोषण मिलता है, वहाँ एक अंदरुनी शक्ति भी थी कि आजादी के बाद इसमें बदलाव आयेगा और अन्याय और शोषण की मात्रा कम होगी, परंतु ऐसा नहीं है। अन्याय, अत्याचार और शोषण के स्वरूप बदल गए हैं। आजादी के बाद भी स्त्रियों की स्थिति में कोई गुणात्मक अन्तर आया हो ऐसा नहीं है। पहले दहेज के कारण अनमेल विवाह या वृद्ध–विवाह होते थे। अब दहेज के दानव के कारण दहेज–हत्याएँ होने लगी हैं। स्त्रियों को जिन्दा जला दिया जाता है। यह जलात्कार और बलात्कार निरंतर चल रहा है। नारी–सुरक्षा के कायदों में इतने छिद्र हैं कि धनवान, शक्ति–संपन्न, गुनहगार आसानी से बरी हो जाते हैं। बलात्कार के कानून में इतने दाँव–पेंच हैं कि अव्वल तो कोई स्त्री फरियाद ही नहीं करती और यदि करती है तो उसे इतना बहुत जलील किया जाता है कि वह सवालों के घेरे से टूटकर असहाय हो जाती है और अंततः अपनी हार स्वीकार लेती है।

राजेन्द्र यादव जी के उपन्यासों में नारी के मनोविज्ञान का बहुत ही सुन्दर चित्रण हुआ है। उनके उपन्यास 'शह और मात' की पात्रा सुजाता उदय के प्रेम से अनुरक्त होकर उसके साथ एकान्त पाना चाहती है। उदय और सुजाता का प्रेम शारीरिक न होकर मानसिक है। सुजाता रात–दिन उदय के विषय में विचार करती है। वह सोचती है कि कभी वह अकेली कमरे में हो और उदय उसे आलिंगनबद्ध कर ले। अतृप्त यौन भावनाएँ उसकी मनःस्थिति को उद्वेलित करती हैं। किन्तु भारतीय संस्कारवश वह अपनी भावनाओं को प्रकट नहीं होने देती। उदय के सम्पर्क से उत्पन्न अनुभूति–जन्य सुख की प्राप्ति के लिए कभी वह आत्म–नियंत्रण खो देती है। कभी अपने आपको सम्भाल लेती है। इस सारी स्थिति का सूक्ष्म विश्लेषण नारी मनोविज्ञान के आधार पर राजेन्द्र यादव ने किया है। इस प्रकार उपन्यासों के अनेक पात्र मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि के आधार पर उनकी मानसिक स्वतंत्रता बनाये रखते हैं। वे परिस्थितियों के सामने झुककर आत्म–समर्पण न करके अपनी पृथक् सत्ता बनाये रखने में सफल होते हैं।

वर्तमान युग की नारी के विषय में इलाचन्द्र जोशी के विचार हैं कि 'शरत युग की नारी की तरह भावुकता के फेर में पड़कर अपने को पूर्णतया बहाना और मिटा देना पसंद नहीं करती, बल्कि स्थिति की वास्तविकता को समझकर व्यक्ति और समाज के अत्याचारों का सामना पूरी शक्ति से करने के योग्य अपने को बनाने की चेष्टा में जुट रही हैं।''[59]

* * * * *

संदर्भिका

1. The Indian Family in Transaction, "The India Family in the Change and Challenge of the Seventies", B.K. Ramanujam, P. 25
2. The Changing Pattern of Family in India : P. D. Devanandan and M.M. Thomas, P. 116
3. आधुनिक साहित्य : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ. 173
4 हिन्दू सोसायटी एट क्रास रोड्स : श्री के.एम. पन्निकर, पृ. 54
5 संस्कृति के चार अध्याय : डॉ. रामधारीसिंह दिनकर, पृ. 542
6 एन एडवास्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया : श्री मजूमदार, पृ. 882
7 "हिन्दी उपन्यास : सामाजिक चेतना", डॉ. कुंवरपाल सिंह, पृ 34
8. Rural Sociology in India : A. R. Desai, P. 37
9 दि ट्रासफर ऑफ पावर इन इडिया : श्री पी.पी. मैनन, पृ 358
10. हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन : डॉ. एस एन गणेशन, पृ. 58
11 भारतीय समाज तथा संस्कृति : डॉ. रघुवंश, पृ. 201
12. टेढ़े-मेढे रास्ते : भगवतीशरण वर्मा, पृ 388
13. आधुनिक साहित्य के संदर्भ में : गंगा प्रसाद विमल, पृ. 112
14. आधुनिक भारत मे सामाजिक परिवर्तन : एम.एस. श्री निवास, पृ. 58
15. हिन्दी साहित्य कोश भाग-1 : धीरेन्द्र वर्मा, पृ. 889
16 'आधुनिक काल : पूर्व पीठिका' से उद्धृत, डॉ नगेन्द्र द्वारा सम्पादित हिन्दी साहित्य का इतिहास में संकलित डॉ. बच्चन सिह के लेख : पृ 442
17. न्याय समाज के मूलाधार : चेस्टर बॉल्स, पृ. 50
18 द चेंजिंग स्टेट्स ऑफ वर्किंग वूमैन इन इण्डिया : प्रोमिला कपूर, पृ. 57
19. मैला ऑचल : फणीश्वरनाथ रेणु, पृ. 191
20. यह पथबन्धु था : नरेश मेहता, पृ. 38
21. यह पथबन्धु था : नरेश मेहता, पृ 41
22. आज का हिन्दी साहित्य : डॉ. इन्द्रनाथ मदान, पृ. 210
23. हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियॉ : डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ. 10
24. आजकल : इन्द्रनाथ मदान के लेख से, जून 1961
25 अंधेरे बंद कमरे : मोहन राकेश, पृ. 28
26 हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यास : डॉ. राही मासूम रज़ा, पृ. 200
27 रुकोगी नहीं राधिका? : उषा प्रियंवदा, पृ. 132
28 रुकोगी नहीं राधिका? : उषा प्रियंवदा, पृ. 104-105
29. यह पथबन्धु था : नरेश मेहता, पृ 38
30. यह पथबन्धु था : नरेश मेहता, पृ. 338
31. सारा आकाश : राजेन्द्र यादव, पृ. 103
32. हिन्दी उपन्यास में कामकाजी महिला : रोहिणी अग्रवाल, पृ 129
33 यह पथबन्धु था : नरेश मेहता, पृ 338

34. यह पथबन्धु था : नरेश मेहता, पृ. 338
35 हिन्दी उपन्यास में कामकाजी महिला : डॉ. रोहिणी अग्रवाल, पृ. 9
36. मनुस्मृति : अध्याय तीन श्लोक संख्या 56 : गोपाल शास्त्री नेने, पृ. 112
37 वूमैन इन पास्ट, प्रैजेण्ट एण्ड फ्यूचर, आगस्ट बेबल, पृ. 2
38 द वूमैन्स मूवमैंट : बारबरा डैकर्ड : पृ 185
39. द वूमैन्स मूवमैंट : बारबरा डैकर्ड : पृ. 189–190
40 सोशल साइटिस्ट अंक 4–5 नवम्बर, दिसम्बर 1975 : पृ. 81
41. वूमैन इन पास्ट, प्रैजेण्ट एण्ड फ्यूचर, आगस्ट बेबल, पृ. 5
42. भारतीय समाज में नारी : नीरा देसाई, पृ. 19
43. भारतीय समाज मे नारी : नीरा देसाई, पृ. 4–6
44. भारतीय समाज मे नारी : नीरा देसाई, पृ. 27
45 हिन्दी साहित्य का इतिहास मे संकलित डॉ. बच्चन सिंह के लेख, आधुनिक काल पूर्व पीठिका मे से उद्धृत : डॉ. नगेन्द्र, पृ. 443
46 भारतीय समाज मे नारी : नीरा देसाई : पृ. 48
47. भारतीय समाज मे नारी : नीरा देसाई : पृ. 55
48 मनुस्मृति : तुलनीय 'पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्राय, स्त्री स्वातत्रसामर्हति।''।
49 आधुनिक हिन्दी उपन्यासो में नारी के विविध रूपो का चित्रण : डॉ मोहम्मद अजहर ढेरीवाला, पृ 47
50 भाषा विज्ञान : डॉ. भोलानाथ तिवारी, पृ. 70
51 भारतीय विज्ञान तथा सस्कृति : डॉ. एम. एल. गुप्ता, पृ. 363
52. भारतीय विज्ञान तथा संस्कृति : डॉ. एम. एल. गुप्ता, पृ. 201
53 औरत होने की सजा : अरविन्द जैन, पृ 117
54. शैलेष मटियानी का कथा साहित्य : शोध प्रबंध, डॉ. सलीम वोरा, पृ. 61–62
55. गोदान : प्रेमचन्द, पृ. 253
56 उखडे हुए लोग : पृ 70
57. 'हिन्दी उपन्यास की विकास परम्परा में साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास' शोध प्रबंध : डॉ पारुकान्त देसाई, पृ 97
58 आधुनिक हिन्दी उपन्यासो मे नारी के विविध रूपों का चित्रण : डॉ. मोहम्मद अजहर ढेरीवाला, पृ. 32
59. विवेचना – इलाचन्द्र जोशी।